



MATS
UNIVERSITY

NAAC
GRADE **A⁺**
ACCREDITED UNIVERSITY

MATS CENTRE FOR OPEN & DISTANCE EDUCATION

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन और गांधीवाद

बैचलर ऑफ़ आर्ट्स (बी.ए.)

चतुर्थ सेमेस्टर



SELF LEARNING MATERIAL

COURSE DEVELOPMENT EXPERT COMMITTEE

- 1- Prof.(Dr.) Reshma Ansari, HOD Hindi Department , MATS University Raipur Chhattisgarh
- 2- Dr. Sudhir Sharma , Subject Expert ,HOD Hindi Department, Kalyan College, Bhilai
- 3- Dr. Kamlesh Gogia Associate Professor, MATS University ,Raipur, Chhattisgarh
- 4- Dr. Sunita Shashikant Tiwari Associate Professor, MATS University Raipur Chhattisgarh
- 5- Dr. Rajesh Kumar Dubey , Subject Expert, Principal , Shahid Rajeev Pandey Government College ,Bhatagaon , Raipur ,Chhattisgarh

COURSE COORDINATOR

Surbhi Singh, Asst. Prof. Hindi Department , MATS University Raipur Chhattisgarh

COURSE /BLOCK PREPARATION

Priyanka Goswani, Asst. Prof. Hindi Department , MATS University Raipur Chhattisgarh

March, 2025

ISBN-978-81-987917-9-5

@MATS Centre for Distance and Online Education, MATS University, Village- Gullu, Aarang, Raipur-
(Chhattisgarh)

All rights reserved. No part of this work may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form, by mimeograph or any other means, without permission in writing from MATS University, Village- Gullu, Aarang, Raipur-(Chhattisgarh)

Printed & Published on behalf of MATS University, Village-Gullu, Aarang, Raipur by Mr. Meghanadhu Katabathuni, Facilities & Operations, MATS University, Raipur (C.G.)

Disclaimer-Publisher of this printing material is not responsible for any error or dispute from contents of this course material, this is completely depends on AUTHOR'S MANUSCRIPT.

Printed at: The Digital Press, Krishna Complex, Raipur-492001(Chhattisgarh)

अनुक्रमणिका

माड्यूल	विषय
माड्यूल 1	भारतीय ज्ञान परंपरा का परिचय इकाई-1 भारतीय राष्ट्रवाद का जन्म: कारण एवं कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में बताये गये उद्देश्य 1-15 इकाई-2: प्रारंभिक दिनों में कांग्रेस की मांगें तथा उदार राष्ट्रीयता का मूल्यांकन 16-25 इकाई-3 उग्रवादी आन्दोलन के उदय के कारण 26-38 इकाई-4 बंगाल में उग्रराष्ट्रवाद और बंगाल का विभाजन 39-49 इकाई-5 भारत में राष्ट्रवाद का विकास: आरंभिक चरण 50-65 इकाई-6 क्रांतिकारी आंदोलन 66-79 इकाई-7 विदेशों में क्रांतिकारी कार्य और क्रांतिकारी आन्दोलन का मूल्यांकन 79-89 इकाई-8 : साम्प्रदायिकता का उदय तथा विकास 90-119 इकाई-9: लखनऊ समझौता एवं मूल्यांकन, होमरूल लीग आन्दोलन 120-145 इकाई-10 गांधी जी का प्रारंभिक राजनीतिक जीवन 146-176
माड्यूल 2	इकाई-11 असहयोग आन्दोलन: कारण, कार्यक्रम, रोलेट एक्ट एवं उसका विरोध, जलियांवाला बाग हत्याकाण्ड 177-185 इकाई-12 चोरी-चौरा काण्ड और आन्दोलन की समाप्ति 186-195 इकाई-13 : साइमन कमीशन, सर्वदलीय सम्मेलन और नेहरू रिपोर्ट, सविनय अवज्ञा आंदोलन 196-211 इकाई-14 : राष्ट्रवाद का गांधी युग (दो) 212-250

माड्यूल 2	इकाई-15 : 1935 का भारत सरकार अधिनियम 251-270 इकाई-16: भारत छोड़ो आन्दोलन 271-289 इकाई-17 देशी राज्यों में राष्ट्रीय आन्दोलन 290-310 इकाई-18 वेवल योजना और शिमला सम्मेलन 311.320
माड्यूल 3	इकाई-19 1945-47 के जन-आन्दोलन 321.330 इकाई-20 1945-47 के बीच राजनीतिक गतिविधियां 331-335 इकाई-21 राष्ट्रीय आन्दोलन और समाजवादी विचारधारा 335-340 इकाई-22 देश का विभाजन और स्वतन्त्र भारत की चुनौतियां 341-361
माड्यूल 4	इकाई-23 भू-स्वामी, पेशेवर और मध्य वर्ग 362-175 इकाई-24 किसान एवं श्रमिक वर्ग 376-385 इकाई-25 जनजातियां एवं जनजातीय विद्रोह 386-395 इकाई-26 भारत में दलित आंदोलन 396-440

Acknowledgement

The Material (Pictures and images) we have used is purely for educational purpose. Every effort has been made to trace the copyright holders of material reproduced in this book. Sould any infringement have occurred, the publishers and editors apologize and will be pleased to make the necessary corrections in future of this book.

मॉड्यूल 1

भारत में राष्ट्रवाद का उद्भव, कारण, प्रकृति एवं विकास

उद्देश्य

1. भारतीय राष्ट्रवाद के उद्भव के प्रमुख कारणों और कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन के उद्देश्यों को समझना।
2. प्रारंभिक कांग्रेस की मांगों और उदार राष्ट्रवाद की प्रकृति एवं उसकी सीमाओं का मूल्यांकन करना।
3. उग्रवादी आंदोलन के उदय के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक कारणों का विश्लेषण करना।
4. क्रांतिकारी आंदोलन, विदेशों में क्रांतिकारी गतिविधियों और उनके प्रभावों का अध्ययन करना।
5. साम्प्रदायिकता के उदय, लखनऊ समझौते और होमरूल लीग आंदोलन की ऐतिहासिक भूमिका को समझना।

इकाई 1: भारतीय राष्ट्रवाद का जन्म: कारण एवं कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में बताये गये

उद्देश्य

भारतीय राष्ट्रवाद का इतिहास विश्व के सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक आंदोलनों में से एक है। यह एक ऐसी यात्रा थी जिसने न केवल भारत को स्वतंत्रता दिलाई, बल्कि पूरे विश्व में उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष करने वाले देशों के लिए एक प्रेरणा का स्रोत बनी। भारतीय राष्ट्रवाद के विकास के बीज अठारहवीं शताब्दी के अंत और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में ही बो दिए गए थे, लेकिन इसका संगठित रूप 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के साथ सामने आया। यह अध्याय भारतीय राष्ट्रवाद के उदय के कारणों और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में निर्धारित किए गए उद्देश्यों पर केंद्रित है। राष्ट्रवाद सिर्फ एक विचारधारा नहीं है, बल्कि एक ऐसी भावना है जो लोगों को एक राष्ट्र के रूप में एकजुट करती है। भारत जैसे विविधताओं से भरे देश में, जहाँ अनेक भाषाएँ, धर्म, संस्कृतियाँ और परंपराएँ हैं, राष्ट्रवाद का विकास एक जटिल प्रक्रिया थी। इसके बावजूद, भारतीय राष्ट्रवाद ने समय के साथ विकसित होकर एक ऐसा आंदोलन बना जिसने सभी भारतीयों को एक सूत्र में पिरोया और उन्हें विदेशी शासन से मुक्ति दिलाने के लिए प्रेरित किया। भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का गठन विश्व इतिहास में एक महत्वपूर्ण अध्याय है। यह अध्याय उन परिस्थितियों और कारकों का विश्लेषण करता है जिन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद को जन्म दिया, और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में निर्धारित किए गए उद्देश्यों और लक्ष्यों की विस्तृत चर्चा करता है, जिसने भारत के स्वतंत्रता संग्राम को एक नई दिशा और गति प्रदान की।

भारतीय समाज की पृष्ठभूमि

औपनिवेशिक काल के पूर्व भारतीय राष्ट्रवाद के विकास को समझने के लिए, हमें पहले भारतीय समाज की उस पृष्ठभूमि को समझना होगा जिसमें यह विकसित हुआ। प्राचीन काल से ही, भारत विविध संस्कृतियों, धर्मों और भाषाओं का संगम रहा है। इसकी समृद्ध सांस्कृतिक विरासत, दर्शन, कला और साहित्य दुनिया भर में प्रसिद्ध थे। भारत की अर्थव्यवस्था भी समृद्ध थी, और इसके व्यापारिक संबंध दूर-दूर तक फैले हुए थे। मध्यकाल में, भारत में विभिन्न साम्राज्यों का उदय और पतन हुआ, जिनमें मुगल साम्राज्य सबसे प्रमुख था। मुगलों ने भारत की अधिकांश भूमि पर शासन किया और एक केंद्रीकृत प्रशासनिक व्यवस्था स्थापित की। हालांकि, 18वीं शताब्दी के मध्य तक मुगल साम्राज्य का पतन होने लगा था, और भारत फिर से छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हो गया। इस अवधि में, यूरोपीय व्यापारिक कंपनियां, विशेष रूप से ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी, भारत में अपना प्रभाव बढ़ा रही थीं। शुरू में, ये कंपनियां केवल व्यापार के लिए आई थीं, लेकिन धीरे-धीरे उन्होंने राजनीतिक शक्ति हासिल करना शुरू कर दिया। 1757 में प्लासी की लड़ाई और 1764 में बक्सर की लड़ाई के बाद, ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत के महत्वपूर्ण क्षेत्रों पर नियंत्रण स्थापित कर लिया। ब्रिटिश शासन के आगमन से पहले, भारत में एक विकेंद्रीकृत राजनीतिक व्यवस्था थी, जिसमें विभिन्न राज्य और रियासतें अपने-अपने तरीके से शासन करते थे। इन राज्यों के बीच सामाजिक और सांस्कृतिक संबंध थे, लेकिन एक एकीकृत राष्ट्रीय पहचान का अभाव था। भारतीय लोग अपने धर्म, जाति, क्षेत्र या भाषा के आधार पर पहचाने जाते थे, और राष्ट्रीय स्तर पर एकता की भावना कमजोर थी। औपनिवेशिक काल से पहले के भारतीय समाज में कई समस्याएं भी थीं, जैसे जाति व्यवस्था, सामाजिक असमानता, अंधविश्वास और रूढ़िवादिता। इन समस्याओं ने भारतीय समाज को कमजोर बना दिया था और उसे बाहरी आक्रमणों के प्रति अधिक संवेदनशील बना दिया था। इस प्रकार, औपनिवेशिक काल के पूर्व भारतीय समाज एक जटिल और विविधतापूर्ण समाज था, जिसमें कई सकारात्मक और नकारात्मक पहलू थे। इस पृष्ठभूमि में, ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन का आगमन हुआ, जिसने भारतीय समाज और राजनीति पर गहरा प्रभाव डाला और अंततः भारतीय राष्ट्रवाद के विकास का मार्ग प्रशस्त किया।

ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन का प्रभाव

ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन ने भारतीय समाज, अर्थव्यवस्था और राजनीति पर गहरा प्रभाव डाला। इन प्रभावों का विश्लेषण करना महत्वपूर्ण है, क्योंकि इन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

राजनीतिक प्रभाव

ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने 18वीं शताब्दी के मध्य से भारत के विभिन्न हिस्सों पर अपना नियंत्रण स्थापित करना शुरू किया। 1857 के विद्रोह के बाद, भारत का शासन सीधे ब्रिटिश क्राउन के



अधीन कर दिया गया। ब्रिटिश सरकार ने भारत में एक केंद्रीकृत प्रशासनिक व्यवस्था स्थापित की, जिसका प्रभाव समूचे उपमहाद्वीप पर पड़ा। ब्रिटिश शासन ने भारत के विभिन्न क्षेत्रों को एक प्रशासनिक इकाई के रूप में एकीकृत किया। उन्होंने एक समान कानून प्रणाली, न्यायिक व्यवस्था और प्रशासनिक संरचना लागू की। यह एकीकरण भारतीय राष्ट्रवाद के विकास के लिए अनजाने में एक महत्वपूर्ण कदम साबित हुआ, क्योंकि इसने भारतीयों को एक साझा शासन और एक साझा दुश्मन के अधीन ला दिया। हालांकि, ब्रिटिश प्रशासन में भारतीयों की भागीदारी सीमित थी। उच्च पदों पर अधिकतर ब्रिटिश अधिकारी नियुक्त किए जाते थे, और भारतीय अधिकारियों को निचले पदों पर ही रखा जाता था। यह भेदभाव भारतीयों में असंतोष का कारण बना और राष्ट्रवादी भावनाओं को बढ़ावा दिया। ब्रिटिश सरकार ने 'विभाजन और शासन' की नीति भी अपनाई, जिसके तहत उन्होंने भारतीयों को धर्म, जाति और क्षेत्र के आधार पर विभाजित करने का प्रयास किया। इस नीति का उद्देश्य भारतीयों के बीच एकता को कमजोर करना और ब्रिटिश शासन को मजबूत करना था। हालांकि, इस नीति ने भी भारतीयों में विरोध की भावना को बढ़ावा दिया और राष्ट्रवादी आंदोलन को गति प्रदान की।

आर्थिक प्रभाव

ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन का भारतीय अर्थव्यवस्था पर विनाशकारी प्रभाव पड़ा। ब्रिटिश सरकार ने भारत के संसाधनों का शोषण किया और अपने आर्थिक हितों को प्राथमिकता दी। भारत, जो कभी विश्व का एक समृद्ध देश था, ब्रिटिश शासन के दौरान गरीबी और आर्थिक पिछड़ेपन का शिकार हो गया। ब्रिटिश सरकार ने भारत के कच्चे माल का निर्यात अपने देश और अन्य औपनिवेशिक बाजारों में किया, और बदले में भारत को अपने तैयार माल का बाजार बना दिया। इस नीति ने भारत के पारंपरिक उद्योगों, विशेषकर कपड़ा उद्योग को बुरी तरह प्रभावित किया। भारतीय किसानों की स्थिति भी दयनीय हो गई। ब्रिटिश सरकार ने भूमि राजस्व प्रणाली में बदलाव किए, जिससे किसानों पर कर का बोझ बढ़ गया। इसके अलावा, ब्रिटिश सरकार ने भारत की कृषि को वाणिज्यिक फसलों, जैसे नील, कपास और चाय की ओर मोड़ दिया, जिससे खाद्य फसलों का उत्पादन कम हो गया और अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गई। ब्रिटिश सरकार ने भारत में रेलवे, डाक और तार, और सिंचाई जैसी बुनियादी ढांचागत सुविधाओं का विकास भी किया। हालांकि, इन सुविधाओं का मुख्य उद्देश्य भारत के संसाधनों का शोषण करना और ब्रिटिश माल के लिए बाजार विकसित करना था, न कि भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास करना। इन आर्थिक नीतियों ने भारतीयों में ब्रिटिश शासन के प्रति असंतोष और विरोध की भावना पैदा की, जो अंततः राष्ट्रवादी आंदोलन के विकास में सहायक सिद्ध हुई।

सामाजिक और सांस्कृतिक प्रभाव

ब्रिटिश शासन ने भारतीय समाज और संस्कृति पर भी गहरा प्रभाव डाला। एक ओर, ब्रिटिश सरकार ने भारत में पश्चिमी शिक्षा, मूल्यों और संस्थाओं को प्रोत्साहित किया, जिससे भारतीय

समाज में आधुनिकीकरण और पुनर्जागरण की प्रक्रिया शुरू हुई। दूसरी ओर, उन्होंने भारतीय परंपराओं और संस्कृति को हीन मानकर उनके प्रति उपेक्षा का रवैया अपनाया, जिससे भारतीयों में अपनी सांस्कृतिक पहचान के प्रति जागरूकता बढ़ी। ब्रिटिश सरकार ने भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार-प्रसार किया। 1835 में, लॉर्ड मैकाले की सिफारिश पर, अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बना दिया गया। इसका उद्देश्य ऐसे भारतीयों का एक वर्ग तैयार करना था जो "रंग और खून से भारतीय हों, लेकिन स्वाद, राय, नैतिकता और बुद्धि से अंग्रेज हों"। इस नीति के परिणामस्वरूप, भारत में एक नया शिक्षित मध्यम वर्ग उभरा, जो पश्चिमी विचारों और मूल्यों से प्रभावित था। इस नई शिक्षित वर्ग ने पश्चिमी उदारवादी विचारों, जैसे स्वतंत्रता, समानता, लोकतंत्र और राष्ट्रवाद को आत्मसात किया। उन्होंने इन विचारों को भारतीय संदर्भ में लागू करना शुरू किया और ब्रिटिश शासन के अन्यायपूर्ण नीतियों की आलोचना करना शुरू कर दिया। इस प्रकार, ब्रिटिश शिक्षा, जिसका उद्देश्य भारतीयों को ब्रिटिश शासन के प्रति वफादार बनाना था, अंततः राष्ट्रवादी विचारों के प्रसार का माध्यम बन गई। ब्रिटिश सरकार ने भारत में कुछ सामाजिक सुधारों को भी बढ़ावा दिया, जैसे सती प्रथा का उन्मूलन, विधवा पुनर्विवाह की अनुमति, और बाल विवाह पर प्रतिबंध। हालांकि, इन सुधारों का मुख्य उद्देश्य भारतीय समाज को "सभ्य" बनाना था, न कि भारतीयों की स्थिति में सुधार करना। इसके अलावा, ब्रिटिश सरकार ने जाति व्यवस्था और धार्मिक विभाजन जैसी सामाजिक समस्याओं को बढ़ावा देकर अपनी विभाजन और शासन की नीति को मजबूत किया। ब्रिटिश शासन ने भारतीय धर्मों और संस्कृति के प्रति अपमानजनक रवैया अपनाया। उन्होंने भारतीय धर्मों को "अंधविश्वास" और "बर्बरता" का प्रतीक माना और ईसाई धर्म को श्रेष्ठ बताया। इस रवैये ने भारतीयों में अपनी धार्मिक और सांस्कृतिक पहचान के प्रति गर्व और जागरूकता पैदा की, जो अंततः सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के रूप में प्रकट हुई। इस प्रकार, ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन ने भारतीय समाज, अर्थव्यवस्था और राजनीति पर गहरा प्रभाव डाला। इन प्रभावों ने भारतीयों में असंतोष और विरोध की भावना पैदा की, जो अंततः भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में सहायक सिद्ध हुई।

भारतीय राष्ट्रवाद के उदय के कारण

भारतीय राष्ट्रवाद के उदय के पीछे कई कारण थे, जो एक-दूसरे से जुड़े हुए थे और जिन्होंने मिलकर राष्ट्रीय आंदोलन को जन्म दिया। इन कारणों को राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और बाहरी प्रभावों के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है।

राजनीतिक कारण

ब्रिटिश शासन की दमनकारी और भेदभावपूर्ण नीतियां भारतीय राष्ट्रवाद के उदय के प्रमुख राजनीतिक कारणों में से एक थीं। ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों को प्रशासन और सेना में उच्च पदों से वंचित रखा। भारतीयों को निचले पदों पर ही नियुक्त किया जाता था, और उन्हें कम वेतन और



अधिकार मिलते थे। इस भेदभाव ने भारतीयों में असंतोष पैदा किया और उन्हें ब्रिटिश शासन के विरुद्ध एकजुट होने के लिए प्रेरित किया। ब्रिटिश सरकार की 'विभाजन और शासन' की नीति भी भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में सहायक सिद्ध हुई। इस नीति के तहत, ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों को धर्म, जाति और क्षेत्र के आधार पर विभाजित करने का प्रयास किया। उन्होंने हिंदुओं और मुसलमानों के बीच मतभेदों को बढ़ावा दिया और उन्हें एक-दूसरे के विरुद्ध खड़ा किया। इस नीति का उद्देश्य भारतीयों के बीच एकता को कमजोर करना और ब्रिटिश शासन को मजबूत करना था। हालांकि, इस नीति ने भारतीय राष्ट्रवादियों को ब्रिटिश सरकार की मंशा को समझने और उसके विरुद्ध एकजुट होने के लिए प्रेरित किया। 1857 का विद्रोह भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में एक महत्वपूर्ण मोड़ साबित हुआ। यह विद्रोह, जिसे ब्रिटिश इतिहासकारों ने 'सिपाही विद्रोह' और भारतीय इतिहासकारों ने 'प्रथम स्वतंत्रता संग्राम' कहा, भारतीयों का ब्रिटिश शासन के विरुद्ध पहला बड़ा संगठित विरोध था। हालांकि यह विद्रोह असफल रहा, लेकिन इसने भारतीयों में राष्ट्रीय एकता और स्वतंत्रता की भावना को जगाया। विद्रोह के बाद, ब्रिटिश सरकार ने भारत के शासन को सीधे अपने हाथों में ले लिया और अधिक दमनकारी नीतियां अपनाईं, जिससे भारतीयों में असंतोष और बढ़ गया। इस अवधि में, विभिन्न कानूनों और अधिनियमों ने भी भारतीयों में असंतोष पैदा किया। 1878 का वर्नाकुलर प्रेस एक्ट, जिसने भारतीय भाषाओं के समाचार पत्रों पर प्रतिबंध लगा दिया, 1883 का इल्बर्ट बिल विवाद, जिसमें भारतीय न्यायाधीशों को यूरोपीय नागरिकों पर मुकदमा चलाने का अधिकार देने के प्रस्ताव का यूरोपीयों ने विरोध किया, और 1919 का रौलट एक्ट, जिसने ब्रिटिश सरकार को बिना मुकदमा चलाए लोगों को गिरफ्तार करने का अधिकार दिया, ऐसे ही कुछ उदाहरण हैं। इन कानूनों ने भारतीयों में ब्रिटिश शासन के प्रति असंतोष को बढ़ावा दिया और उन्हें राष्ट्रवादी आंदोलन में शामिल होने के लिए प्रेरित किया।

आर्थिक कारण

ब्रिटिश औपनिवेशिक नीतियों का भारतीय अर्थव्यवस्था पर विनाशकारी प्रभाव पड़ा, जो भारतीय राष्ट्रवाद के उदय के प्रमुख आर्थिक कारणों में से एक था। ब्रिटिश सरकार ने भारत के संसाधनों का शोषण किया और अपने आर्थिक हितों को प्राथमिकता दी, जिससे भारत की अर्थव्यवस्था को भारी नुकसान हुआ। ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीतियों ने भारत के पारंपरिक उद्योगों, विशेषकर कपड़ा उद्योग को बुरी तरह प्रभावित किया। ब्रिटिश सरकार ने भारत से कच्चा माल, जैसे कपास, खरीदा और उसे ब्रिटेन में तैयार माल में परिवर्तित किया। फिर इस तैयार माल को भारत में वापस बेचा गया, जहां इसे कम कीमत पर उपलब्ध कराया गया। इस नीति ने भारत के पारंपरिक कपड़ा उद्योग को नष्ट कर दिया और लाखों भारतीय कारीगरों और बुनकरों को बेरोजगार कर दिया। भारतीय किसानों की स्थिति भी दयनीय हो गई। ब्रिटिश सरकार ने भूमि राजस्व प्रणाली में बदलाव किए, जिससे किसानों पर कर का बोझ बढ़ गया। इसके अलावा,

ब्रिटिश सरकार ने भारत की कृषि को वाणिज्यिक फसलों, जैसे नील, कपास और चाय की ओर मोड़ दिया, जिससे खाद्य फसलों का उत्पादन कम हो गया और अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गई। 1876-78 और 1896-1900 के अकालों ने लाखों भारतीयों की जान ले ली, लेकिन ब्रिटिश सरकार ने इस समस्या को हल करने के लिए पर्याप्त कदम नहीं उठाए।

इकाई 2: प्रारंभिक दिनों में कांग्रेस की मांगें तथा उदार राष्ट्रीयता का मूल्यांकन

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रारंभिक दिनों में उसकी मांगें और उदार राष्ट्रीयता का विकास भारतीय राजनीतिक इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय है। 1885 में स्थापित इस संगठन ने अपने प्रारंभिक वर्षों में जिस विचारधारा और कार्यप्रणाली को अपनाया, वह "उदार राष्ट्रीयता" के नाम से जानी जाती है। यह काल भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के विकास का प्रथम चरण था, जिसमें शिक्षित मध्यवर्ग के नेतृत्व में एक सांविधानिक और क्रमिक परिवर्तन की मांग की गई। इस अध्याय में हम भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के शुरुआती वर्षों में उसकी मांगों, उदार राष्ट्रीयता के दर्शन, इसके नेतृत्व और कार्यप्रणाली, इसके योगदान और सीमाओं का विस्तृत विश्लेषण करेंगे।

¹ भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना और पृष्ठभूमि

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना 28 दिसंबर 1885 को बंबई (वर्तमान मुंबई) के गोकुलदास तेजपाल संस्कृत महाविद्यालय में हुई थी। इसके संस्थापक ए.ओ. ह्यूम एक सेवानिवृत्त ब्रिटिश अधिकारी थे जिन्होंने भारतीय जनता की बढ़ती असंतुष्टि को महसूस किया था और एक संगठित राजनीतिक मंच की आवश्यकता को पहचाना था। प्रथम अधिवेशन में 72 प्रतिनिधियों ने भाग लिया था, जिसकी अध्यक्षता व्योमेशचंद्र बनर्जी ने की थी। इस समय भारत में अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त एक नए मध्य वर्ग का उदय हो रहा था जो पश्चिमी उदारवादी विचारों से प्रभावित था और भारत में भी इन्होंने सिद्धांतों पर आधारित शासन प्रणाली की स्थापना चाहता था। इस काल में भारत की आर्थिक स्थिति लगातार बिगड़ रही थी। ब्रिटिश शासन की आर्थिक नीतियों के कारण भारतीय उद्योग और व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा था, किसानों की स्थिति भी दयनीय थी। औपनिवेशिक शोषण को समझने वाला यह शिक्षित वर्ग अब अपनी बात एक संगठित मंच से उठाना चाहता था। राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से पहले कई प्रांतीय संगठन जैसे बॉम्बे एसोसिएशन, पूना सार्वजनिक सभा, मद्रास महाजन सभा, और भारतीय एसोसिएशन अस्तित्व में थे। इन सभी संगठनों का एकीकरण करके एक अखिल भारतीय संगठन के रूप में कांग्रेस का गठन किया गया। कांग्रेस के प्रारंभिक नेतृत्व में दादाभाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता, बदरुद्दीन तैयबजी, सुरेंद्रनाथ बनर्जी, गोपालकृष्ण गोखले, महादेव गोविंद रानाडे जैसे प्रमुख विचारक शामिल थे। इन नेताओं की पृष्ठभूमि काफी हद तक समान थी - वे अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त, आर्थिक रूप से संपन्न, और पश्चिमी उदारवादी विचारधारा से प्रभावित थे। इनमें से अधिकांश वकील, शिक्षक, पत्रकार या सरकारी कर्मचारी थे। इसी कारण इन्हें "नरम दल" या "प्रार्थना-पत्र वाले राष्ट्रवादी" भी कहा जाता था। प्रारंभिक कांग्रेस की मांगें



भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपने शुरुआती वर्षों में कई महत्वपूर्ण मांगें उठाईं जो मुख्य रूप से ब्रिटिश शासन के ढांचे के भीतर सुधारों पर केंद्रित थीं। इन मांगों का उद्देश्य भारतीयों की राजनीतिक, आर्थिक और प्रशासनिक स्थिति में सुधार लाना था। प्रमुख मांगें निम्नलिखित थीं:

राजनीतिक मांगें

1. विधान परिषदों में भारतीय प्रतिनिधित्व में वृद्धि: कांग्रेस ने मांग की कि केंद्रीय और प्रांतीय विधान परिषदों में भारतीयों का प्रतिनिधित्व बढ़ाया जाए और चुनाव प्रक्रिया में सुधार किया जाए। 1892 के भारतीय परिषद अधिनियम में कुछ हद तक इस मांग को स्वीकार किया गया।
2. सिविल सर्विस परीक्षा में सुधार: कांग्रेस ने मांग रखी कि सिविल सर्विस परीक्षा भारत में भी आयोजित की जाए, और इसकी आयु सीमा को बढ़ाया जाए ताकि अधिक भारतीय इसमें भाग ले सकें। दादाभाई नौरोजी ने 1893 में अपने भाषण में कहा था, "हमारी मांग है कि प्रशासनिक सेवाओं में भारतीयों को न्यायसंगत प्रतिनिधित्व मिले। हम केवल समानता और न्याय चाहते हैं।"
3. न्यायपालिका और कार्यपालिका का पृथक्करण: कांग्रेस ने न्यायपालिका और कार्यपालिका के कार्यों के बीच स्पष्ट विभाजन की मांग की, ताकि न्याय प्रणाली स्वतंत्र और निष्पक्ष हो सके।
4. स्थानीय स्वशासन का विस्तार: स्थानीय निकायों में अधिक भारतीय प्रतिनिधित्व और इन संस्थाओं को अधिक शक्तियां देने की मांग की गई।

आर्थिक मांगें

1. भारतीय धन का निष्कासन रोकना: कांग्रेस ने "आर्थिक निकास" (ड्रेन ऑफ वेल्थ) की आलोचना की और मांग की कि भारत से धन के निरंतर बहिर्गमन को रोका जाए। दादाभाई नौरोजी ने अपनी पुस्तक "पावर्टी एंड अन-ब्रिटिश रूल इन इंडिया" में इस मुद्दे पर विस्तार से चर्चा की थी।
2. आयात शुल्क में वृद्धि: भारतीय उद्योगों के संरक्षण के लिए आयात शुल्क बढ़ाने की मांग की गई, विशेष रूप से ब्रिटिश वस्त्र उद्योग के मुकाबले भारतीय वस्त्र उद्योग के संरक्षण हेतु।
3. सैन्य व्यय में कमी: कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत में किए जा रहे अत्यधिक सैन्य व्यय की आलोचना की और इसमें कटौती की मांग की।
4. कृषि सुधार: किसानों की स्थिति सुधारने के लिए भूमि कर में कमी, कृषि ऋण की व्यवस्था और सिंचाई सुविधाओं के विस्तार की मांग की गई।

सामाजिक-सांस्कृतिक मांगें

1. शिक्षा का विस्तार: कांग्रेस ने प्राथमिक और तकनीकी शिक्षा पर अधिक खर्च करने और

शिक्षा प्रणाली में सुधार की मांग की।

2. प्रेस की स्वतंत्रता: अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और प्रेस पर लगाए गए प्रतिबंधों को हटाने की मांग की गई।
3. हथियार अधिनियम का विरोध: 1878 के हथियार अधिनियम का विरोध किया गया, जिसने भारतीयों को हथियार रखने पर प्रतिबंध लगा दिया था।

इन मांगों के अलावा, कांग्रेस ने नमक कर, आबकारी कर, और भूमि कर जैसे कई अन्य करों में कमी की मांग भी उठाई। 1889 के अधिवेशन में स्वराज शब्द का पहली बार उपयोग किया गया, हालांकि इसका अर्थ अभी पूर्ण स्वतंत्रता नहीं बल्कि ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत स्वशासन था। गोपालकृष्ण गोखले ने 1905 में कहा था, "हमारी मांग है कि हमें अपने देश के प्रशासन में उचित हिस्सा मिले। हम ब्रिटिश साम्राज्य के वफादार नागरिक हैं, लेकिन हमें भी अपने देश के विकास में भागीदारी का अधिकार है।"

उदार राष्ट्रीयता का दर्शन और विचारधारा: प्रारंभिक कांग्रेस की विचारधारा, जिसे "उदार राष्ट्रीयता" कहा जाता है, मुख्य रूप से पश्चिमी उदारवादी सिद्धांतों से प्रेरित थी। इसके प्रमुख दार्शनिक आधार निम्नलिखित थे:

- पश्चिमी उदारवाद का प्रभाव: कांग्रेस के प्रारंभिक नेता जॉन स्टुअर्ट मिल, जेरेमी बेंथम, हर्बर्ट स्पेंसर जैसे पश्चिमी उदारवादी विचारकों से अत्यधिक प्रभावित थे। उन्होंने न्याय, समानता, स्वतंत्रता, और कानून के शासन जैसे मूल्यों को अपनाया। वे मानते थे कि ब्रिटिश शासन मूलतः न्यायपूर्ण और समतामूलक है, लेकिन इसके कार्यान्वयन में दोष हैं जिन्हें सुधारा जा सकता है। सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने कहा था, "हम ब्रिटिश सिद्धांतों और ब्रिटिश संस्थाओं से प्रेम करते हैं, और यह हमारी इच्छा है कि वे हमारे देश में भी स्थापित हों।"
- क्रमिक सुधार में विश्वास: उदारवादी राष्ट्रवादियों का मानना था कि क्रांति या हिंसक विद्रोह के बजाय क्रमिक और सांविधानिक तरीकों से परिवर्तन लाया जा सकता है। वे विश्वास करते थे कि विरोध प्रदर्शन करने, याचिकाएं भेजने, वार्ता करने और ब्रिटिश जनमत को प्रभावित करने से भारतीयों की स्थिति में सुधार लाया जा सकता है। गोपालकृष्ण गोखले ने 1908 में कहा था, "हमारा विश्वास है कि संवाद, तर्क और न्याय की अपील के माध्यम से हम अपने लक्ष्यों को प्राप्त कर सकते हैं। हिंसा और क्रांति कभी हमारा मार्ग नहीं रहे हैं।"
- ब्रिटिश न्याय में आस्था: प्रारंभिक कांग्रेस के नेताओं का मानना था कि ब्रिटिश लोग मूलतः न्यायप्रिय हैं और अगर उन्हें भारतीयों की समस्याओं के बारे में सही जानकारी दी जाए तो वे न्याय करेंगे। वे ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति वफादार थे और उसके ढांचे के भीतर ही सुधार

चाहते थे। दादाभाई नौरोजी ने 1886 में कहा था, "ब्रिटिश सिंहासन की शक्ति और गरिमा भारतीयों के प्रति न्याय और निष्पक्षता पर निर्भर करती है।"

- राजनीतिक शिक्षा और जागरूकता: उदार राष्ट्रवादियों का मानना था कि भारतीय जनता में राजनीतिक जागरूकता फैलाना और उन्हें शिक्षित करना उनका प्रथम कर्तव्य है। उन्होंने अखबार, भाषण, और सार्वजनिक बैठकों के माध्यम से लोगों को जागरूक करने का प्रयास किया। महादेव गोविंद रानाडे ने कहा था, "हमारा प्रथम कार्य है जनता को शिक्षित करना और उन्हें उनके अधिकारों के प्रति जागरूक बनाना।"
- धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण: प्रारंभिक कांग्रेस ने धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण अपनाया था। इसमें हिंदू, मुस्लिम, पारसी और अन्य समुदायों के नेता शामिल थे। 1889 के अधिवेशन में बदरुद्दीन तैयबजी, जो एक मुस्लिम थे, ने अध्यक्षता की थी। फिरोजशाह मेहता ने कहा था, "हम सभी धर्मों का सम्मान करते हैं और मानते हैं कि देश के विकास के लिए सभी समुदायों का सहयोग आवश्यक है।"
- आर्थिक राष्ट्रवाद: उदार राष्ट्रवादियों ने आर्थिक राष्ट्रवाद की नींव रखी। उन्होंने ब्रिटिश आर्थिक नीतियों की आलोचना की और देश के आर्थिक विकास के लिए स्वदेशी उद्योगों के विकास पर जोर दिया। दादाभाई नौरोजी के "आर्थिक निकास के सिद्धांत" ने दिखाया कि कैसे ब्रिटिश नीतियां भारत से धन का निरंतर बहिर्गमन कर रही थीं, जिससे देश गरीब होता जा रहा था। उन्होंने बताया कि भारत से ब्रिटेन को होने वाले धन के इस प्रवाह को कैसे रोका जाए।

प्रारंभिक कांग्रेस की कार्यप्रणाली और रणनीतियां

उदार राष्ट्रवादियों ने अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए विभिन्न कार्यप्रणालियों और रणनीतियों का उपयोग किया। इनमें प्रमुख थीं:

- संवैधानिक तरीके: प्रारंभिक कांग्रेस ने संवैधानिक और शांतिपूर्ण तरीकों को अपनाया। वे विश्वास करते थे कि याचिकाओं, प्रस्तावों, और वार्ता के माध्यम से अपनी मांगें पूरी कर सकते हैं। 1889 से 1905 तक, कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार को कई याचिकाएं और प्रस्ताव भेजे। गोपालकृष्ण गोखले ने कहा था, "हम अपनी मांगों को संवैधानिक तरीकों से प्रस्तुत करते हैं, क्योंकि हमारा विश्वास है कि यही सभ्य और प्रभावी तरीका है।"
- वार्षिक अधिवेश: कांग्रेस हर साल देश के विभिन्न शहरों में अपना अधिवेशन आयोजित करती थी, जिसमें देश भर से प्रतिनिधि भाग लेते थे। इन अधिवेशनों में राष्ट्रीय महत्व के मुद्दों पर चर्चा होती थी और प्रस्ताव पारित किए जाते थे। अधिवेशन के दौरान संगठन की नीतियों और कार्यक्रमों पर चर्चा होती और प्रस्ताव पारित किए जाते थे। इस प्रकार, ये अधिवेशन कांग्रेस के लिए एक महत्वपूर्ण मंच बने जहां विभिन्न प्रांतों के राजनीतिक

कार्यकर्ता एकत्र होकर राष्ट्रीय महत्व के मुद्दों पर विचार-विमर्श करते थे।

- जनमत निर्माण: उदार राष्ट्रवादी भारत और ब्रिटेन दोनों में जनमत निर्माण पर विशेष ध्यान देते थे। उन्होंने अखबारों, पत्रिकाओं, भाषणों और सार्वजनिक बैठकों के माध्यम से अपने विचारों का प्रचार किया। प्रमुख नेताओं ने अंग्रेजी और क्षेत्रीय भाषाओं में अखबार और पत्रिकाएँ शुरू कीं, जैसे दादाभाई नौरोजी का "रास्त गोप्तार" और सुरेंद्रनाथ बनर्जी का "बंगाली"। दादाभाई नौरोजी, नरेंद्रनाथ सेन, और फिरोजशाह मेहता जैसे नेताओं ने भारत की समस्याओं को उजागर करने के लिए विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखे। दादाभाई नौरोजी ने ब्रिटेन में रहकर वहाँ के जनमत को प्रभावित करने का प्रयास किया और **1892** में ब्रिटिश संसद के सदस्य भी चुने गए।
- प्रतिनिधि सभाएं: कांग्रेस के अलावा, प्रारंभिक उदारवादी नेताओं ने कई अन्य संगठन भी स्थापित किए, जैसे बॉम्बे प्रेसीडेंसी एसोसिएशन, पूना सार्वजनिक सभा, मद्रास महाजन सभा, और भारतीय एसोसिएशन। ये संगठन स्थानीय स्तर पर सक्रिय थे और अपने क्षेत्र की समस्याओं को उठाते थे। सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने **1883** में कलकत्ता में भारतीय राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया था, जिसे कांग्रेस का पूर्ववर्ती माना जाता है। यह सम्मेलन दो वर्षों तक चला और इसने कांग्रेस के गठन का मार्ग प्रशस्त किया।

ब्रिटिश उदारवादियों के साथ गठबंधन

- प्रारंभिक कांग्रेसी नेता ब्रिटेन में उदारवादी दल के साथ गठबंधन बनाने और उनके समर्थन से भारत में सुधार लाने का प्रयास करते थे। वे ब्रिटिश संसद के सदस्यों और प्रभावशाली व्यक्तियों से संपर्क करते थे और उन्हें भारत की स्थिति के बारे में जागरूक करते थे। दादाभाई नौरोजी ने **1892** में ब्रिटिश संसद के सदस्य के रूप में चुने जाने के बाद ब्रिटिश सांसदों को भारत की समस्याओं से अवगत कराने का प्रयास किया। उन्होंने और अन्य नेताओं ने ब्रिटेन में "भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का ब्रिटिश समिति" भी स्थापित किया, जिसका उद्देश्य ब्रिटिश जनता और संसद के सदस्यों को भारत की स्थिति से अवगत कराना था।
- आर्थिक राष्ट्रवाद: उदार राष्ट्रवादियों ने आर्थिक राष्ट्रवाद की नींव रखी। उन्होंने ब्रिटिश आर्थिक नीतियों की आलोचना की और स्वदेशी उद्योगों के विकास पर जोर दिया। **1896-97** के अकाल के दौरान, कांग्रेस ने अकाल पीड़ितों की सहायता के लिए काम किया और सरकार की अकाल नीति की आलोचना की। दादाभाई नौरोजी, रमेश चंद्र दत्त, और महादेव गोविंद रानाडे ने अपने लेखों और भाषणों में यह दिखाया कि ब्रिटिश आर्थिक नीतियां कैसे भारत के आर्थिक विकास को बाधित कर रही थीं और भारत से धन का

निरंतर बहिर्गमन हो रहा था।

- सामाजिक-धार्मिक सुधार: उदार राष्ट्रवादी राजनीतिक मांगों के साथ-साथ सामाजिक और धार्मिक सुधारों पर भी जोर देते थे। उन्होंने बाल विवाह, विधवा पुनर्विवाह, जाति प्रथा, छुआछूत जैसी सामाजिक बुराइयों के खिलाफ आवाज उठाई। महादेव गोविंद रानाडे और गोपालकृष्ण गोखले जैसे नेताओं ने प्रार्थना समाज के माध्यम से सामाजिक सुधारों का समर्थन किया।

उदार राष्ट्रीयता के योगदान और उपलब्धियां: प्रारंभिक कांग्रेस और उदार राष्ट्रवादियों ने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। उनकी प्रमुख उपलब्धियां निम्नलिखित थीं:

इकाई 3: उग्रवादी आन्दोलन के उदय के कारण

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास विविध विचारधाराओं और आंदोलनों से भरा हुआ है। उन्नीसवीं सदी के अंत और बीसवीं सदी के प्रारंभ में, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व में चल रहे नरमपंथी आंदोलन की सीमाओं के कारण एक नए आंदोलन का उदय हुआ, जिसे इतिहास में उग्रवादी आंदोलन के नाम से जाना जाता है। यह अध्याय उग्रवादी आंदोलन के उदय के विभिन्न कारणों और परिस्थितियों का विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत करता है, जिन्होंने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को एक नई दिशा और गति प्रदान की।

नरमपंथी नीति की असफलता

उग्रवादी आंदोलन के उदय का सबसे महत्वपूर्ण कारण नरमपंथी नीति की असफलता थी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना 1885 में हुई थी और इसके प्रारंभिक नेता दादाभाई नौरोजी, सुरेंद्रनाथ बनर्जी, फिरोजशाह मेहता और गोपालकृष्ण गोखले जैसे मध्यम मार्गी नेता थे। इन नेताओं ने ब्रिटिश सरकार के प्रति निवेदन, प्रार्थना और प्रतिवाद की नीति अपनाई थी। उनका मानना था कि अंग्रेज न्यायप्रिय हैं और यदि भारतीयों की समस्याओं और मांगों को उचित तरीके से उनके सामने रखा जाए, तो वे उन्हें स्वीकार कर लेंगे। परंतु बीस वर्षों के अनुभव ने यह साबित कर दिया कि यह आशा व्यर्थ थी। नरमपंथियों ने अपने कार्यकाल में अनेक महत्वपूर्ण मांगें रखीं, जैसे कि सिविल सेवा परीक्षा भारत में आयोजित करना, प्रशासनिक खर्च में कमी, भारतीयों के लिए उच्च पदों पर नियुक्ति, नमक कर और अन्य करों में कमी, अकाल राहत कार्यों में सुधार, स्वदेशी उद्योगों को प्रोत्साहन आदि। लेकिन इन सभी मांगों को ब्रिटिश सरकार ने अनदेखा कर दिया या नकार दिया। इससे भारतीय जनता में निराशा और असंतोष बढ़ता गया। लॉर्ड कर्जन के काल (1899-1905) में ब्रिटिश सरकार का व्यवहार और भी कठोर हो गया। उसने भारतीयों के प्रति अपमानजनक और दमनकारी नीतियां अपनाईं, जिसमें कलकत्ता नगर निगम अधिनियम, विश्वविद्यालय अधिनियम, और सबसे विवादास्पद बंगाल विभाजन शामिल था। इन नीतियों ने

नरमपंथी नेताओं की स्थिति कमजोर कर दी, क्योंकि वे जनता को यह विश्वास नहीं दिला सके कि उनकी नीतियों से कोई परिणाम निकलेगा।

बंगाल का विभाजन (1905)

उग्रवादी आंदोलन के उदय का तात्कालिक कारण बंगाल का विभाजन था, जिसकी घोषणा लॉर्ड कर्जन ने 1905 में की थी। इस विभाजन के अनुसार बंगाल को दो भागों में बांटा गया - पूर्वी बंगाल (मुस्लिम बहुल) और पश्चिमी बंगाल (हिंदू बहुल)। ब्रिटिश सरकार ने इस विभाजन को प्रशासनिक सुविधा का नाम दिया, लेकिन वास्तव में यह 'फूट डालो और राज करो' की नीति का एक स्पष्ट उदाहरण था। बंगाल के विभाजन ने पूरे देश में, विशेषकर बंगाल में, तीव्र प्रतिक्रिया पैदा की। इससे देशभर में स्वदेशी और बहिष्कार आंदोलन शुरू हुआ। लोगों ने विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया और स्वदेशी वस्तुओं को अपनाया। इस आंदोलन ने एक नए प्रकार के राष्ट्रीय आंदोलन की शुरुआत की, जिसमें जन भागीदारी महत्वपूर्ण थी और जो नरमपंथी विचारधारा से अलग था। बंगाल विभाजन के विरोध में हजारों छात्र, महिलाएं, व्यापारी और आम नागरिक सड़कों पर उतर आए। उन्होंने रैलियां निकालीं, विरोध प्रदर्शन किए, और 'वंदे मातरम्' का नारा लगाया। इस जन आंदोलन ने भारतीय राजनीति में एक नया युग शुरू किया, जिसमें जनता की भागीदारी बढ़ी और उग्रवादी नेताओं का उदय हुआ।

अंतर्राष्ट्रीय घटनाक्रम का प्रभाव

उग्रवादी आंदोलन के उदय में अंतर्राष्ट्रीय घटनाक्रम का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा। बीसवीं सदी के प्रारंभ में, विश्व में अनेक महत्वपूर्ण घटनाएं हुईं, जिन्होंने भारतीय राष्ट्रवादियों को प्रेरित किया और उनकी सोच को प्रभावित किया। 1904-05 में जापान ने रूस को युद्ध में पराजित किया, जिससे यह साबित हुआ कि एशियाई देश भी यूरोपीय शक्तियों को हरा सकते हैं। इस घटना ने भारतीयों में आत्मविश्वास जगाया और उन्हें यह विश्वास दिलाया कि ब्रिटिश साम्राज्य को भी चुनौती दी जा सकती है। जापान की विजय ने 'एशिया एशियाइयों के लिए' का नारा लोकप्रिय किया और एशियाई देशों में राष्ट्रवादी भावनाओं को बल दिया। चीन में 1911 की क्रांति, रूस में 1917 की क्रांति, तुर्की में कमाल पाशा के नेतृत्व में मुक्ति आंदोलन, और ईरान में संविधान आंदोलन जैसी अन्य अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं ने भी भारतीय क्रांतिकारियों और उग्रवादियों को प्रेरित किया। इन घटनाओं ने यह दिखाया कि साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष और क्रांति संभव है। इसके अलावा, विदेशों में रहने वाले भारतीय क्रांतिकारियों ने अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का प्रचार किया। श्यामजी कृष्ण वर्मा, मैडम भीकाजी कामा, लाला हरदयाल और वीर सावरकर जैसे क्रांतिकारियों ने लंदन, पेरिस, बर्लिन और अमेरिका में भारतीय स्वतंत्रता की मांग को बुलंद किया। उन्होंने 'इंडियन होम रूल सोसायटी', 'इंडिया हाउस' और 'गदर पार्टी' जैसे संगठन स्थापित किए, जिन्होंने भारत में क्रांतिकारी गतिविधियों को प्रोत्साहित किया।

सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियां



उग्रवादी आंदोलन के उदय में भारत की सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के कारण भारत की अर्थव्यवस्था गंभीर संकट से गुजर रही थी। परंपरागत हस्तशिल्प उद्योगों का पतन हो रहा था, लेकिन उनके स्थान पर आधुनिक उद्योगों का विकास नहीं हो पाया था। इससे बेरोजगारी और गरीबी बढ़ती जा रही थी। भारत से निरंतर धन का बहिर्गमन (ड्रेन ऑफ वेल्थ) हो रहा था, जिसका विश्लेषण दादाभाई नौरोजी ने अपनी पुस्तक 'पावर्टी एंड अनब्रिटिश रूल इन इंडिया' में प्रस्तुत किया था। भारत के संसाधनों का दोहन करके ब्रिटेन अपने औद्योगिक विकास को आगे बढ़ा रहा था, जबकि भारत गरीबी के गर्त में डूबता जा रहा था। इस काल में भारत में अकालों की संख्या और तीव्रता बढ़ गई थी। 1896-97 और 1899-1900 के अकालों में लाखों लोग मारे गए। इन अकालों का मुख्य कारण ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीतियां थीं, जो भारतीय किसानों के हितों की अनदेखी करती थीं। भारी लगान, किसानों पर कर्ज का बोझ, और अन्य आर्थिक शोषण के कारण किसानों की हालत दयनीय थी। शहरों में भी स्थिति खराब थी। कारखानों में श्रमिकों को कम मजदूरी पर लंबे समय तक काम करना पड़ता था, और उनके लिए कोई सामाजिक सुरक्षा उपाय नहीं थे। मध्यम वर्ग में भी असंतोष बढ़ रहा था, क्योंकि शिक्षित भारतीयों को सरकारी नौकरियों में भेदभाव का सामना करना पड़ता था। इन सभी कारकों ने मिलकर भारतीय समाज में व्यापक असंतोष पैदा किया, जिसने उग्रवादी आंदोलन के उदय के लिए अनुकूल वातावरण तैयार किया।

पश्चिमी शिक्षा और विचारधाराओं का प्रभाव

ब्रिटिश शासन द्वारा शुरू की गई पश्चिमी शिक्षा प्रणाली ने भारतीय युवाओं के मानस पर गहरा प्रभाव डाला। इस शिक्षा के माध्यम से भारतीय युवा पश्चिमी उदारवादी और क्रांतिकारी विचारों से परिचित हुए। उन्होंने रूसो, वॉल्टेयर, मिल, स्पेंसर, पेन, मैजिनी और गैरीबाल्डी जैसे विचारकों और क्रांतिकारियों के विचारों का अध्ययन किया, जिन्होंने स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे के आदर्शों की वकालत की थी। इटली के जोसेफ मैजिनी, जिन्होंने इटली की एकता और स्वतंत्रता के लिए संघर्ष किया था, भारतीय क्रांतिकारियों के लिए विशेष प्रेरणा का स्रोत थे। मैजिनी के 'यंग इटली' आंदोलन से प्रेरित होकर, भारत में भी 'यंग बंगाल', 'यंग इंडिया' और अन्य समान संगठन स्थापित किए गए। अमेरिकी और फ्रांसीसी क्रांतियों के आदर्श भी भारतीय राष्ट्रवादियों को प्रेरित करते थे। पश्चिमी शिक्षा ने भारतीय युवाओं में एक नया आत्मविश्वास और आत्मसम्मान जगाया। उन्होंने महसूस किया कि उन्हें पश्चिमी सभ्यता की बराबरी करने के लिए अपनी सांस्कृतिक और ऐतिहासिक विरासत पर गर्व करना चाहिए। इस प्रकार, पश्चिमी शिक्षा ने अप्रत्यक्ष रूप से भारतीय राष्ट्रवाद को बढ़ावा दिया, जिसने उग्रवादी आंदोलन के उदय में योगदान दिया।

धार्मिक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण

उन्नीसवीं सदी में भारत में अनेक धार्मिक और सामाजिक सुधार आंदोलन हुए, जिन्होंने भारतीय समाज में नया जीवन फूँका और राष्ट्रीय चेतना को जगाया। स्वामी विवेकानंद, दयानंद सरस्वती,

रामकृष्ण परमहंस और स्वामी श्रद्धानंद जैसे धार्मिक नेताओं ने भारतीय संस्कृति और धर्म के गौरव का प्रचार किया और लोगों में आत्मविश्वास जगाया। स्वामी विवेकानंद ने अपने प्रभावशाली भाषणों और लेखों के माध्यम से युवाओं में राष्ट्रीय गौरव की भावना भरी। उन्होंने कहा, "उठो, जागो और तब तक रुको मत जब तक लक्ष्य प्राप्त न हो जाए।" उनके विचारों ने अरबिंदो घोष, बाल गंगाधर तिलक और बिपिन चंद्र पाल जैसे उग्रवादी नेताओं को गहराई से प्रभावित किया। आर्य समाज, ब्रह्म समाज, रामकृष्ण मिशन और थियोसॉफिकल सोसायटी जैसे संगठनों ने भी राष्ट्रीय जागरण में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इन संगठनों ने न केवल धार्मिक और सामाजिक सुधारों पर बल दिया, बल्कि भारतीय संस्कृति के गौरव को पुनर्स्थापित करने का प्रयास भी किया। इस धार्मिक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण ने भारतीयों में आत्मगौरव और राष्ट्रीय अस्मिता की भावना जगाई, जिसने उग्रवादी आंदोलन के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

प्रशासनिक और संवैधानिक सुधारों की असफलता

ब्रिटिश सरकार द्वारा किए गए विभिन्न प्रशासनिक और संवैधानिक सुधारों की असफलता ने भी उग्रवादी आंदोलन के उदय में योगदान दिया। 1861, 1892 और 1909 के भारतीय परिषद अधिनियमों ने भारतीयों को बहुत सीमित राजनीतिक अधिकार दिए थे, जो भारतीयों की बढ़ती आकांक्षाओं को पूरा करने में असमर्थ थे। 1909 के मॉर्ले-मिंटो सुधारों ने सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली शुरू की, जिसने हिंदू-मुस्लिम विभाजन को बढ़ावा दिया और 'फूट डालो और राज करो' की ब्रिटिश नीति को मजबूत किया। इन सुधारों ने यह साबित कर दिया कि ब्रिटिश सरकार भारतीयों की वास्तविक स्वशासन की मांग को स्वीकार नहीं करना चाहती थी इसके अलावा, प्रशासनिक व्यवस्था में भारतीयों के साथ भेदभाव किया जाता था। उच्च प्रशासनिक पदों पर अंग्रेजों का वर्चस्व था, और भारतीय अधिकारियों को कम वेतन और कम अधिकार मिलते थे। यह भेदभाव शिक्षित भारतीयों में असंतोष का कारण बना। इन सभी कारकों ने यह साबित कर दिया कि ब्रिटिश सरकार भारतीयों को वास्तविक अधिकार देने के लिए तैयार नहीं थी, जिससे भारतीय राष्ट्रवादियों में यह विश्वास मजबूत हुआ कि नरमपंथी नीतियों से कोई परिणाम नहीं निकलेगा और एक अधिक आक्रामक रणनीति की आवश्यकता है।

नए नेतृत्व का उदय

उग्रवादी आंदोलन के उदय में एक महत्वपूर्ण कारक नए नेतृत्व का उदय था। बीसवीं सदी के प्रारंभ में, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में एक नई पीढ़ी के नेताओं का उदय हुआ, जिन्होंने नरमपंथी नेताओं की नीतियों की आलोचना की और एक अधिक आक्रामक और सक्रिय रणनीति अपनाने का आह्वान किया। बाल गंगाधर तिलक, बिपिन चंद्र पाल, लाला लाजपत राय, अरबिंदो घोष और अन्य उग्रवादी नेताओं ने भारतीय जनता में राष्ट्रीय भावना जगाने और उन्हें राजनीतिक रूप से जागरूक बनाने का काम किया। उन्होंने प्रार्थना और प्रतिवाद की नीति की जगह स्वदेशी,



बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा और स्वराज की नीति अपनाई। लोकमान्य तिलक ने अपने समाचार पत्रों 'केसरी' और 'मराठा' के माध्यम से राष्ट्रीय भावना का प्रचार किया। उन्होंने कहा, "स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूंगा।" उन्होंने गणेश उत्सव और शिवाजी उत्सव जैसे सार्वजनिक उत्सवों के माध्यम से राष्ट्रीय एकता और जागरण का संदेश फैलाया। बिपिन चंद्र पाल ने अपने भाषणों और लेखों के माध्यम से बंगाल में राष्ट्रीय जागरण का संदेश फैलाया। लाला लाजपत राय ने पंजाब में राष्ट्रीय आंदोलन को मजबूत किया और उन्हें 'पंजाब केसरी' के नाम से जाना जाता था। अरबिंदो घोष ने 'वंदे मातरम्' और 'कर्मयोगिन' जैसे समाचार पत्रों के माध्यम से क्रांतिकारी विचारों का प्रचार किया। इन नेताओं ने भारतीय जनता, विशेषकर युवाओं, में राष्ट्रीय अस्मिता और आत्मविश्वास की भावना जगाई, जिसने उग्रवादी आंदोलन के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

ब्रिटिश नीतियों का प्रभाव

ब्रिटिश सरकार की विभिन्न नीतियों ने भी उग्रवादी आंदोलन के उदय में योगदान दिया। लॉर्ड कर्जन के काल (1899-1905) में ब्रिटिश सरकार ने अनेक ऐसे कदम उठाए, जिन्होंने भारतीयों में आक्रोश और असंतोष पैदा किया। 1898 में, भारतीय विश्वविद्यालय आयोग की स्थापना की गई, जिसका उद्देश्य भारतीय शिक्षा प्रणाली पर अधिक नियंत्रण स्थापित करना था। 1904 के भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम ने विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता को सीमित कर दिया और उन पर सरकारी नियंत्रण बढ़ा दिया। इससे शिक्षित भारतीयों में आक्रोश पैदा हुआ। 1899 में, कलकत्ता नगर निगम अधिनियम पारित किया गया, जिसने नगर निगम में निर्वाचित सदस्यों की संख्या कम कर दी और नियुक्त सदस्यों की संख्या बढ़ा दी। इससे भारतीयों के स्थानीय स्वशासन के अधिकारों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। 1899 में ही, आधिकारिक गोपनीयता अधिनियम पारित किया गया, जो प्रेस की स्वतंत्रता पर एक प्रहार था। 1904 में, भारतीय पुलिस आयोग की रिपोर्ट ने पुलिस बल में भारतीयों की नियुक्ति को सीमित कर दिया। इन सभी नीतियों ने भारतीयों में यह विश्वास मजबूत किया कि ब्रिटिश सरकार उनके हितों की परवाह नहीं करती और उनके अधिकारों को सीमित करना चाहती है। इससे उग्रवादी आंदोलन को बल मिला।

प्रेस और साहित्य की भूमिका

उग्रवादी आंदोलन के उदय में भारतीय प्रेस और साहित्य ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस काल में अनेक समाचार पत्र और पत्रिकाएं प्रकाशित होते थे, जो राष्ट्रीय भावना का प्रचार करते थे और ब्रिटिश नीतियों की आलोचना करते थे। तिलक के 'केसरी' और 'मराठा', अरबिंदो घोष के 'वंदे मातरम्' और 'कर्मयोगिन', बिपिन चंद्र पाल के 'न्यू इंडिया', और लाला लाजपत राय के 'पंजाबी' और 'वंदे मातरम्' जैसे समाचार पत्रों ने उग्रवादी विचारों का प्रचार किया और जनता में राष्ट्रीय

चेतना जगाई। इन समाचार पत्रों ने ब्रिटिश शासन की आर्थिक शोषण की नीतियों, प्रशासनिक भेदभाव, और दमनकारी कानूनों की आलोचना की और स्वदेशी, बहिष्कार, और स्वराज के विचार

इकाई 4: बंगाल में उग्रराष्ट्रवाद और बंगाल का विभाजन

इस दौरान, मुस्लिम लीग ने ब्रिटिश सरकार का समर्थन किया और अपनी स्थिति मजबूत की। **1942** में, महात्मा गांधी के नेतृत्व में 'भारत छोड़ो आंदोलन' की शुरुआत हुई, जिसमें ब्रिटिश शासन के तत्काल अंत की मांग की गई। इस आंदोलन को 'अगस्त क्रांति' के नाम से भी जाना जाता है। बंगाल में भी इस आंदोलन ने जोर पकड़ा और कई स्थानों पर हिंसक विरोध प्रदर्शन हुए। ब्रिटिश सरकार ने इस आंदोलन का दमन करने के लिए कठोर कार्रवाई की और हजारों लोगों को गिरफ्तार किया गया। इसी दौरान, सुभाष चंद्र बोस ने आजाद हिंद फौज (इंडियन नेशनल आर्मी) का गठन किया और जापान के साथ मिलकर ब्रिटिश साम्राज्य के खिलाफ सशस्त्र संघर्ष शुरू किया। बोस ने 'दिल्ली चलो' का नारा दिया और अंडमान और निकोबार द्वीप समूह पर कब्जा कर लिया। हालांकि, **1945** में जापान की हार के साथ आजाद हिंद फौज का अभियान भी समाप्त हो गया।

बंगाल अकाल (1943)

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान, **1943** में बंगाल में एक भयंकर अकाल पड़ा, जिसमें लगभग **30** लाख लोगों की मृत्यु हुई। इस अकाल के कई कारण थे, जिनमें युद्ध के कारण खाद्य पदार्थों की कमी, ब्रिटिश सरकार की अकुशल नीतियां, और प्राकृतिक आपदाएं शामिल थीं। बंगाल अकाल ने बंगाली समाज पर गहरा प्रभाव डाला और ब्रिटिश शासन के प्रति आक्रोश को और बढ़ावा दिया। इस अकाल की त्रासदी को बंगाली साहित्य और कला में व्यापक रूप से चित्रित किया गया है। बिभूतिभूषण बंद्योपाध्याय की उपन्यास 'अशनि संकेत' और सत्यजित रे की फिल्म 'अशनि संकेत' इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

कैबिनेट मिशन प्लान और भारत का विभाजन

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद, ब्रिटिश सरकार ने भारत को स्वतंत्रता देने की प्रक्रिया शुरू की। **1946** में, ब्रिटिश सरकार ने कैबिनेट मिशन भेजा, जिसने भारत के लिए एक संविधान सभा के गठन और संघीय सरकार के निर्माण का प्रस्ताव रखा। हालांकि, कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच मतभेदों के कारण, यह योजना विफल हो गई। इसी समय, **16** अगस्त, **1946** को मुस्लिम लीग ने 'प्रत्यक्ष कार्रवाई दिवस' (डायरेक्ट एक्शन डे) मनाया, जिससे कलकत्ता में भयंकर सांप्रदायिक दंगे भड़क उठे, जिन्हें 'कलकत्ता के नरसंहार' के नाम से जाना जाता है। इन दंगों में हजारों लोग मारे गए और घायल हुए। इसके बाद, नोआखली, बिहार और पंजाब में भी सांप्रदायिक हिंसा फैल गई। इन



घटनाओं के बाद, ब्रिटिश सरकार ने विभाजन के माध्यम से भारत को स्वतंत्रता देने का निर्णय लिया। फरवरी 1947 में, ब्रिटिश प्रधानमंत्री क्लेमेंट एटली ने घोषणा की कि ब्रिटेन जून 1948 तक भारत को स्वतंत्रता दे देगा। लॉर्ड माउंटबेटन को भारत का अंतिम वायसराय नियुक्त किया गया और उन्हें सत्ता हस्तांतरण की प्रक्रिया पूरी करने का काम सौंपा गया।

बंगाल का विभाजन (1947)

भारत के विभाजन के साथ, बंगाल का भी विभाजन हुआ। मई-जून 1947 में, बंगाल और पंजाब विधानसभाओं में मतदान हुआ, जिसमें निर्णय लिया गया कि ये प्रांत विभाजित होंगे। बंगाल विधानसभा के हिंदू सदस्यों ने विभाजन के पक्ष में और मुस्लिम सदस्यों ने विभाजन के विरुद्ध मतदान किया। सर सिरिल रैडक्लिफ की अध्यक्षता वाले सीमा आयोग ने बंगाल को पश्चिम बंगाल (भारत) और पूर्वी बंगाल (पाकिस्तान, बाद में बांग्लादेश) में विभाजित करने के लिए एक रेखा (रैडक्लिफ लाइन) खींची। यह विभाजन धार्मिक जनसांख्यिकी के आधार पर किया गया, जिसके तहत हिंदू बहुल क्षेत्र भारत में और मुस्लिम बहुल क्षेत्र पाकिस्तान में शामिल किए गए। विभाजन के बाद, पश्चिम बंगाल में कोलकाता, हावड़ा, बर्धमान, मेदिनीपुर और मुर्शिदाबाद जैसे क्षेत्र शामिल थे, जबकि पूर्वी बंगाल में ढाका, चट्टग्राम, रंगपुर और खुलना जैसे क्षेत्र शामिल थे। कोलकाता, जो पहले अविभाजित बंगाल की राजधानी था, पश्चिम बंगाल का हिस्सा बन गया, जबकि ढाका पूर्वी बंगाल की राजधानी बनी।

विभाजन का प्रभाव और शरणार्थी संकट

बंगाल के विभाजन के बाद, लाखों हिंदू परिवार पूर्वी बंगाल से पश्चिम बंगाल में और मुस्लिम परिवार पश्चिम बंगाल से पूर्वी बंगाल में जाने लगे। यह पलायन बहुत बड़े पैमाने पर हुआ और इससे दोनों क्षेत्रों में गंभीर शरणार्थी संकट पैदा हो गया। पश्चिम बंगाल, त्रिपुरा और असम में शरणार्थी शिविर स्थापित किए गए, जहां लाखों विस्थापित लोगों को आश्रय दिया गया। विभाजन ने बंगाल की अर्थव्यवस्था और संस्कृति पर भी गहरा प्रभाव डाला। पूर्वी बंगाल, जहां मुख्य रूप से जूट उद्योग केंद्रित था, पाकिस्तान का हिस्सा बन गया, जबकि जूट मिलें मुख्य रूप से पश्चिम बंगाल में स्थित थीं। इससे दोनों क्षेत्रों की अर्थव्यवस्था प्रभावित हुई। इसी तरह, बंगाली भाषा और संस्कृति, जो पहले अविभाजित बंगाल की साझा विरासत थी, अब दो अलग-अलग राष्ट्रों में विभाजित हो गई।

पूर्वी बंगाल में भाषा आंदोलन और बांग्लादेश का जन्म

विभाजन के बाद, पूर्वी बंगाल पाकिस्तान का हिस्सा बन गया। पाकिस्तान ने उर्दू को अपनी राष्ट्रभाषा घोषित किया, जिसका पूर्वी बंगाल के लोगों ने विरोध किया, क्योंकि वहां की अधिकांश आबादी बांग्ला भाषी थी। 1952 में, पूर्वी बंगाल में भाषा आंदोलन शुरू हुआ, जिसमें बांग्ला को

सह-राष्ट्रभाषा का दर्जा देने की मांग की गई। 21 फरवरी, 1952 को, ढाका विश्वविद्यालय के छात्रों पर पुलिस ने गोलीबारी की, जिसमें कई छात्र मारे गए। इस दिन को अब 'शहीद दिवस' (मातृभाषा दिवस) के रूप में मनाया जाता है और यूनेस्को ने इसे 'अंतरराष्ट्रीय मातृभाषा दिवस' के रूप में मान्यता दी है। भाषा आंदोलन के बाद, पूर्वी बंगाल और पश्चिमी पाकिस्तान के बीच तनाव बढ़ने लगा। पूर्वी बंगाल के लोगों को लगा कि पाकिस्तान सरकार उनके साथ भेदभाव कर रही है और उनके आर्थिक और सांस्कृतिक हितों की उपेक्षा कर रही है। 1960 के दशक में, शेख मुजीबुर रहमान के नेतृत्व में अवामी लीग ने पूर्वी बंगाल के अधिकारों के लिए आवाज उठाई और स्वायत्तता की मांग की। 1970 के आम चुनावों में, अवामी लीग ने पूर्वी बंगाल में सभी सीटें जीतीं और पाकिस्तान की राष्ट्रीय असेंबली में बहुमत हासिल किया। हालांकि, पाकिस्तान के तत्कालीन राष्ट्रपति जनरल याह्या खान ने सत्ता हस्तांतरण करने से इनकार कर दिया और मार्च 1971 में पूर्वी बंगाल में सैन्य कार्रवाई शुरू कर दी। इसके बाद, शेख मुजीबुर रहमान ने 26 मार्च, 1971 को पूर्वी बंगाल की स्वतंत्रता की घोषणा की और बांग्लादेश का जन्म हुआ। पाकिस्तानी सेना और बंगाली मुक्तिवाहिनी के बीच नौ महीने का रक्तंजित संघर्ष हुआ, जिसमें लाखों लोग मारे गए और करोड़ों लोग भारत में शरणार्थी बन गए। अंततः, भारतीय सेना के हस्तक्षेप के बाद, 16 दिसंबर, 1971 को पाकिस्तानी सेना ने आत्मसमर्पण कर दिया और बांग्लादेश एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में उभरा।

विभाजन के बाद पश्चिम बंगाल

भारत के स्वतंत्र होने के बाद, पश्चिम बंगाल भारतीय गणराज्य का एक राज्य बन गया। डॉ. बिधान चंद्र रॉय पश्चिम बंगाल के पहले मुख्यमंत्री बने और उन्होंने राज्य के पुनर्निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। विभाजन के बाद के वर्षों में, पश्चिम बंगाल को कई चुनौतियों का सामना करना पड़ा, जिनमें शरणार्थियों का पुनर्वास, आर्थिक पुनर्निर्माण और सामाजिक एकीकरण शामिल थे। 1960 और 1970 के दशक में, पश्चिम बंगाल में वामपंथी आंदोलन मजबूत हुआ और 1977 में, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी (सीपीएम) के नेतृत्व में वाम मोर्चा सरकार बनी, जिसने लगातार 34 वर्षों तक शासन किया। इस दौरान, भूमि सुधारों और पंचायती राज व्यवस्था को मजबूत करने जैसे कदम उठाए गए। हालांकि, औद्योगिक विकास में गिरावट और बेरोजगारी जैसी समस्याएं भी बनी रहीं 2011 में, ममता बनर्जी के नेतृत्व में तृणमूल कांग्रेस ने वाम मोर्चा को हराया और पश्चिम बंगाल में सत्ता प्राप्त की। ममता बनर्जी ने राज्य के विकास और आधुनिकीकरण पर जोर दिया और 'मां, माटी, मानुष' का नारा दिया।

बंगाल में उग्रराष्ट्रवाद और बंगाल के विभाजन की कहानी भारतीय स्वतंत्रता संग्राम और राष्ट्र निर्माण के इतिहास का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। इसने भारत और बांग्लादेश दोनों देशों के राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिदृश्य को गहराई से प्रभावित किया है। आज भी, विभाजन के घाव दोनों देशों की जनता की स्मृति में ताजा हैं, लेकिन समय के साथ, दोनों देशों ने



अपने संबंधों को मजबूत करने और साझा सांस्कृतिक विरासत को संरक्षित करने के प्रयास भी किए हैं। बंगाल के विभाजन से सबक लेते हुए, हमें सांप्रदायिक सद्भाव और सांस्कृतिक एकता के महत्व को समझना चाहिए। विविधता में एकता भारतीय उपमहाद्वीप की सबसे बड़ी ताकत है, और हमें इसे संरक्षित और संवर्धित करने के लिए प्रयास करना चाहिए। बंगाल का इतिहास हमें याद दिलाता है कि धार्मिक और सांस्कृतिक मतभेदों के बावजूद, हम एक साझा मानवता और विरासत के सूत्र में बंधे हुए हैं।

बंगाल के उग्रराष्ट्रवाद के प्रमुख नेता और उनकी विचारधारा

बंगाल के उग्रराष्ट्रवादी आंदोलन में कई प्रमुख नेताओं ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, जिन्होंने अपने विचारों और कार्यों से न केवल बंगाल बल्कि पूरे भारत के स्वतंत्रता संग्राम को प्रभावित किया। इनमें से कुछ प्रमुख नेता और उनकी विचारधारा निम्नलिखित हैं:

अरबिंदो घोष (1872-1950)

अरबिंदो घोष एक प्रमुख क्रांतिकारी नेता, दार्शनिक और योगी थे, जिन्होंने प्रारंभिक बंगाल के उग्रराष्ट्रवादी आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने 'वंदे मातरम्' और 'कर्मयोगिन' जैसे क्रांतिकारी समाचार पत्रों का संपादन किया और 'नव शक्ति' राजनीतिक दल की स्थापना की। उनकी राजनीतिक विचारधारा धार्मिक राष्ट्रवाद और आध्यात्मिक स्वतंत्रता पर आधारित थी। अरबिंदो घोष का मानना था कि भारत की स्वतंत्रता केवल राजनीतिक नहीं, बल्कि आध्यात्मिक भी होनी चाहिए। वे भारतीय संस्कृति और धर्म को राष्ट्रवाद का आधार मानते थे और भारत के पुनरुत्थान में विश्वास रखते थे। **1908** में अलीपुर बम केस में गिरफ्तारी के बाद, अरबिंदो घोष ने सक्रिय राजनीति छोड़ दी और पांडिचेरी (अब पुदुचेरी) में आश्रम की स्थापना कर आध्यात्मिक जीवन अपना लिया।

बिपिन चंद्र पाल (1858-1932)

बिपिन चंद्र पाल 'लाल-बाल-पाल' त्रिमूर्ति के एक प्रमुख सदस्य थे और उग्रराष्ट्रवादी विचारधारा के प्रमुख प्रवक्ता थे। उन्होंने 'न्यू इंडिया' समाचार पत्र की शुरुआत की और स्वदेशी आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभाई। उनकी विचारधारा आर्थिक स्वदेशी, राजनीतिक स्वराज और शिक्षा के माध्यम से राष्ट्रीय जागरूकता पर केंद्रित थी। पाल ने ब्रिटिश सरकार के साथ असहयोग और बहिष्कार की नीति का समर्थन किया और लोगों से आत्मनिर्भर बनने का आह्वान किया। उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद को हिंदू धर्म और संस्कृति से जोड़ा, लेकिन वे सांप्रदायिक सद्भाव के भी समर्थक थे। उन्होंने शिक्षा को राष्ट्रीय जागरूकता का प्रमुख माध्यम माना और राष्ट्रीय शिक्षा परिषद की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

बारीन्द्र कुमार घोष (1880-1959)

अरबिंदो घोष के छोटे भाई, बारीन्द्र कुमार घोष, एक प्रमुख क्रांतिकारी थे, जिन्होंने 'युगांतर' क्रांतिकारी समूह की स्थापना की। उन्होंने मनिकतला बम फैक्ट्री स्थापित की, जहां युवा क्रांतिकारियों को बम बनाने का प्रशिक्षण दिया जाता था। 1908 के अलीपुर बम केस में, उन्हें फांसी की सजा सुनाई गई, जिसे बाद में उम्रकैद में बदल दिया गया। बारीन्द्र कुमार घोष का मानना था कि भारत को स्वतंत्र कराने के लिए सशस्त्र क्रांति आवश्यक है। उनकी विचारधारा धार्मिक राष्ट्रवाद और क्रांतिकारी समाजवाद के मिश्रण पर आधारित थी। जेल से रिहा होने के बाद, उन्होंने अपनी क्रांतिकारी गतिविधियां जारी रखीं और स्वतंत्रता के बाद पत्रकारिता और साहित्य में सक्रिय रहे।

खुदीराम बोस (1889-1908)

खुदीराम बोस भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के सबसे युवा और प्रसिद्ध क्रांतिकारियों में से एक थे। मात्र 18 वर्ष की आयु में, उन्होंने प्रफुल्ल चाकी के साथ मिलकर ब्रिटिश मजिस्ट्रेट किंग्सफोर्ड की हत्या का प्रयास किया, लेकिन गलती से दो ब्रिटिश महिलाओं की हत्या हो गई। इस घटना के बाद, उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और फांसी दे दी गई। खुदीराम बोस की बलिदान गाथा ने बंगाल के युवाओं को प्रेरित किया और वे उग्रराष्ट्रवादी आंदोलन के प्रतीक बन गए। उनके बलिदान ने आने वाली पीढ़ियों के क्रांतिकारियों को प्रेरित किया और भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में उनका नाम अमर हो गया।

रासबिहारी बोस (1886-1945)

रासबिहारी बोस एक प्रमुख क्रांतिकारी नेता थे, जिन्होंने गदर पार्टी और आजाद हिंद फौज के गठन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। वे दिल्ली षड्यंत्र केस (1912) और गदर षड्यंत्र केस (1915) के मुख्य आरोपी थे और बाद में जापान भाग गए, जहां उन्होंने 'आजाद हिंद सरकार' की स्थापना की। रासबिहारी बोस अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को मजबूत करने के पक्षधर थे और उनका मानना था कि विदेशी शक्तियों की सहायता से भारत को स्वतंत्र कराया जा सकता है। उन्होंने जापान में 'भारतीय स्वतंत्रता लीग' की स्थापना की और द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जापान की सहायता से भारत को स्वतंत्र कराने का प्रयास किया।

सूर्य सेन (1894-1934)

मास्टर दा के नाम से प्रसिद्ध, सूर्य सेन बंगाल के प्रमुख क्रांतिकारियों में से एक थे। उन्होंने 'अनुशीलन समिति' के सदस्य के रूप में अपनी क्रांतिकारी गतिविधियां शुरू कीं और बाद में चट्टग्राम के क्रांतिकारी आंदोलन का नेतृत्व किया। 1930 में, उन्होंने 'चट्टग्राम शस्त्रागार छापा' का



नेतृत्व किया, जो ब्रिटिश शासन के खिलाफ एक महत्वपूर्ण सशस्त्र विद्रोह था। सूर्य सेन ने युवाओं को क्रांतिकारी गतिविधियों के लिए प्रशिक्षित किया और उन्हें राष्ट्रीय चेतना से जोड़ा। उनका मानना था कि स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए सशस्त्र संघर्ष और जन आंदोलन दोनों आवश्यक हैं। 1933 में, उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और 1934 में फांसी दे दी गई।

इकाई 5: भारत में राष्ट्रवाद का विकास: आरंभिक चरण

भारतीय राष्ट्रवाद का इतिहास विश्व के सबसे प्रेरणादायक और जटिल राजनीतिक आंदोलनों में से एक है। यह केवल एक राजनीतिक आंदोलन नहीं था, बल्कि एक सामाजिक और सांस्कृतिक जागरण था जिसने भारतीय जनमानस को नई दिशा दी। 19वीं शताब्दी के मध्य से शुरू होकर यह आंदोलन 20वीं शताब्दी के मध्य तक चला, जब भारत आखिरकार ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन से मुक्त हुआ। इस विशाल आंदोलन के बीज कहां और कैसे बोए गए, यह समझना भारतीय इतिहास के अध्ययन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। यह अध्याय भारतीय राष्ट्रवाद के उदय और विकास के आरंभिक चरणों पर केंद्रित है - वे परिस्थितियां जिन्होंने राष्ट्रवादी भावनाओं को जन्म दिया, वे विचारक जिन्होंने इसे आकार दिया, और वे आंदोलन जिन्होंने इसे आगे बढ़ाया। भारतीय राष्ट्रवाद को समझने के लिए, हमें पहले यह समझना होगा कि 'राष्ट्रवाद' शब्द का क्या अर्थ है। सामान्य शब्दों में, राष्ट्रवाद एक विचारधारा है जो एक समुदाय की पहचान और एकता को बढ़ावा देती है, जिसे 'राष्ट्र' कहा जाता है। यह राष्ट्रीय पहचान, राष्ट्रीय गौरव और राष्ट्रीय हितों की भावना पर आधारित है। भारतीय संदर्भ में, राष्ट्रवाद का अर्थ भारत के लोगों के बीच एकता की भावना से है, जो अपनी विविधता के बावजूद एक राष्ट्र के रूप में एकजुट हैं। भारतीय राष्ट्रवाद का विकास एक लंबी और जटिल प्रक्रिया थी, जिसने कई चरणों से गुजरते हुए अंततः भारत को स्वतंत्रता दिलाई।

भारतीय राष्ट्रवाद के बीज: ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारतीय राष्ट्रवाद के बीज अत्यंत प्राचीन हैं। भारत की सामाजिक-सांस्कृतिक विरासत में एकता की भावना कई शताब्दियों से मौजूद रही है। प्राचीन भारतीय साहित्य, जैसे वेद, उपनिषद, रामायण और महाभारत में भारत को एक सांस्कृतिक इकाई के रूप में देखा गया है। 'भारतवर्ष' या 'भरत खंड' जैसे शब्द इन ग्रंथों में मिलते हैं, जो भारतीय उपमहाद्वीप को एक भौगोलिक और सांस्कृतिक इकाई के रूप में संदर्भित करते हैं। प्राचीन समय में, भारत के विभिन्न हिस्सों में कई राज्य और साम्राज्य थे, लेकिन उनके बीच सांस्कृतिक और धार्मिक संबंध थे जो उन्हें एक सूत्र में बांधते थे। मौर्य और गुप्त जैसे साम्राज्यों ने भारत के बड़े हिस्सों को एकीकृत किया, जिससे राजनीतिक एकता की भावना विकसित हुई। इसके अलावा, बौद्ध धर्म और जैन धर्म जैसे आंदोलनों ने भारत के विभिन्न क्षेत्रों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान को बढ़ावा दिया। संस्कृत भाषा ने भी एक सांस्कृतिक एकीकरण के माध्यम के रूप में काम किया, जिससे विचारों और ज्ञान का प्रसार हुआ। यह सब भारतीय राष्ट्रवाद की नींव थी, हालांकि आधुनिक अर्थों में राष्ट्रवाद एक बाद का विकास

था।

मध्यकाल में, भारत विभिन्न राजवंशों और साम्राज्यों के अधीन था। इस अवधि के दौरान, कई क्षेत्रीय शक्तियां उभरीं, और क्षेत्रीय पहचानें मजबूत हुईं। मुगल साम्राज्य ने फिर से भारत के बड़े हिस्सों को एकीकृत किया, लेकिन यह एकता राजनीतिक थी, राष्ट्रवादी नहीं। हालांकि, मुगलों के शासन के दौरान भी, भारतीय संस्कृति और परंपराएं बरकरार रहीं, और विभिन्न धर्मों और संस्कृतियों के बीच एक सद्भावपूर्ण सह-अस्तित्व विकसित हुआ, जिसे अक्सर 'गंगा-जमुनी तहजीब' के रूप में जाना जाता है। 18वीं शताब्दी के अंत तक, मुगल साम्राज्य का पतन हो चुका था, और भारत छोटे-छोटे राज्यों में बंट गया था। यह एक ऐसा समय था जब यूरोपीय शक्तियां, विशेष रूप से ब्रिटिश, भारत में अपना प्रभाव बढ़ा रही थीं। ईस्ट इंडिया कंपनी, जो मूल रूप से एक व्यापारिक संगठन था, धीरे-धीरे एक राजनीतिक शक्ति बन गई। 1757 में प्लासी की लड़ाई के बाद, कंपनी ने बंगाल पर नियंत्रण कर लिया, और अगले सौ वर्षों में, वे भारत के अधिकांश हिस्सों पर कब्जा कर लिया। ब्रिटिश शासन ने भारत में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन लाए। उन्होंने एक केंद्रीकृत प्रशासन स्थापित किया, एक आधुनिक परिवहन और संचार प्रणाली विकसित की, और अंग्रेजी शिक्षा की शुरुआत की। ये परिवर्तन, जबकि औपनिवेशिक शोषण का हिस्सा थे, अप्रत्यक्ष रूप से भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में योगदान दिया। रेल और टेलीग्राफ जैसी नई प्रौद्योगिकियों ने देश के विभिन्न हिस्सों के बीच संचार और यात्रा को आसान बना दिया, जिससे लोगों के बीच संपर्क बढ़ा। अंग्रेजी शिक्षा ने भारतीय बुद्धिजीवियों को पश्चिमी राजनीतिक विचारों, विशेष रूप से स्वतंत्रता, समानता और राष्ट्रवाद के विचारों से परिचित कराया। 19वीं शताब्दी के मध्य तक, भारत में एक नए प्रकार की राष्ट्रीय चेतना का उदय हो रहा था। यह आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद का आरंभ था, जो ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के विरोध और भारतीय स्वतंत्रता की आकांक्षा पर आधारित था।

औपनिवेशिक प्रभाव और प्रतिक्रिया

भारत में ब्रिटिश शासन ने गहरे सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन लाए, जिन्होंने अंततः राष्ट्रवादी आंदोलन के उदय को प्रेरित किया। ब्रिटिश शासकों ने भारत में अपने हितों को बढ़ावा देने के लिए नीतियां बनाईं, जिससे देश का आर्थिक शोषण हुआ। उन्होंने भारत के संसाधनों का दोहन किया, भारतीय उद्योगों को नष्ट किया, और भारतीय किसानों पर भारी कर लगाए। ये नीतियां भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए विनाशकारी थीं और भारतीय लोगों के बीच असंतोष पैदा करने का कारण बनीं। औपनिवेशिक शासन का एक महत्वपूर्ण पहलू अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार था। लॉर्ड मैकाले के 1835 के प्रसिद्ध 'मिनट ऑन एजुकेशन' ने भारत में अंग्रेजी शिक्षा की नींव रखी। मैकाले का उद्देश्य "रक्त और रंग में भारतीय, लेकिन स्वाद, राय, नैतिकता और बुद्धि में अंग्रेज" एक वर्ग का निर्माण करना था। यह वर्ग ब्रिटिश शासन और पश्चिमी संस्कृति के प्रति वफादार

होगा। हालांकि, अंग्रेजी शिक्षा के अप्रत्याशित परिणाम हुए। भारतीय छात्रों ने न केवल अंग्रेजी भाषा और साहित्य का अध्ययन किया, बल्कि पश्चिमी राजनीतिक विचारों और दर्शन का भी अध्ययन किया। उन्होंने रूसो, वॉल्टेयर, मिल और लॉक जैसे विचारकों के कार्यों के माध्यम से स्वतंत्रता, समानता और लोकतंत्र के सिद्धांतों से परिचित हुए। ये विचार भारतीय बुद्धिजीवियों को प्रेरित करते थे और उन्हें ब्रिटिश शासन के अन्याय पर सवाल उठाने के लिए प्रोत्साहित करते थे।

प्रिंटिंग प्रेस के आगमन ने भी इन विचारों के प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 19वीं शताब्दी के दौरान, भारत में कई समाचार पत्र और पत्रिकाएँ शुरू की गईं, जैसे बंगाल गजट, संवाद कौमुदी, और इंडियन मिरर। ये प्रकाशन राजनीतिक चर्चा के मंच बन गए और राष्ट्रवादी विचारों को फैलाने में मदद की। वे ब्रिटिश नीतियों की आलोचना करते थे और भारतीयों के अधिकारों की वकालत करते थे। वे भारतीय लोगों के बीच राजनीतिक जागरूकता फैलाने में महत्वपूर्ण थे। रेलवे, टेलीग्राफ और डाक सेवाओं जैसे आधुनिक परिवहन और संचार साधनों ने भी राष्ट्रवादी आंदोलन के विकास में योगदान दिया। इन प्रौद्योगिकियों ने देश के विभिन्न हिस्सों के बीच संपर्क को आसान बना दिया, जिससे विचारों और सूचनाओं का आदान-प्रदान हुआ। वे भारतीय लोगों को एक दूसरे के करीब लाए और एक राष्ट्रीय एकता की भावना विकसित करने में मदद की। ब्रिटिश शासन ने भी भारत में एक एकीकृत प्रशासनिक और कानूनी प्रणाली की स्थापना की। जबकि यह प्रणाली औपनिवेशिक शासन को सुविधाजनक बनाने के लिए डिज़ाइन की गई थी, इसने अप्रत्यक्ष रूप से एक भारतीय राष्ट्रीय पहचान के विकास में योगदान दिया। भारत के सभी हिस्सों में एक समान कानून और प्रशासनिक व्यवस्था थी, जिससे एक एकीकृत राजनीतिक इकाई की भावना पैदा हुई। हालांकि, ब्रिटिश नीतियों ने भारतीय लोगों के बीच एक गहरा असंतोष भी पैदा किया। ब्रिटिश शासकों ने भारतीयों के साथ भेदभाव किया और उन्हें दूसरे दर्जे के नागरिक के रूप में व्यवहार किया। उन्होंने भारतीयों को उच्च पदों से बाहर रखा और उन्हें राजनीतिक अधिकारों से वंचित किया। इस भेदभाव ने भारतीय बुद्धिजीवियों के बीच गुस्सा और असंतोष पैदा किया, जिन्होंने बराबरी का व्यवहार और राजनीतिक अधिकारों की मांग करना शुरू कर दिया।

औपनिवेशिक नीतियों के आर्थिक प्रभाव ने भी राष्ट्रवादी भावनाओं को बढ़ावा दिया। ब्रिटिश शासकों ने भारतीय उद्योगों को बर्बाद कर दिया, विशेष रूप से कपड़ा उद्योग, जो कभी दुनिया में प्रसिद्ध था। उन्होंने भारत को कच्चे माल का स्रोत और ब्रिटिश सामानों के लिए बाजार में बदल दिया। इस 'धन के निकास' ने भारत को गरीब बना दिया और भारतीय अर्थशास्त्रियों और राजनीतिक नेताओं के बीच आक्रोश पैदा किया। वे देश के आर्थिक शोषण की आलोचना करने लगे और भारतीय उद्योगों के संरक्षण और विकास की वकालत करने लगे। 1857 का विद्रोह, जिसे भारत का पहला स्वतंत्रता संग्राम भी कहा जाता है, भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में एक महत्वपूर्ण मोड़ था। यह भारत में ब्रिटिश शासन के खिलाफ पहला बड़ा सशस्त्र विद्रोह था। यद्यपि विद्रोह विफल रहा, इसने भारतीय लोगों के बीच एक नई राष्ट्रीय चेतना पैदा की। यह ब्रिटिश शासन के

खिलाफ प्रतिरोध की संभावना दिखाता था और भविष्य के राष्ट्रवादी आंदोलनों के लिए एक प्रेरणा बन गया। विद्रोह के बाद, ब्रिटिश सरकार ने भारत में अपनी नीतियों में महत्वपूर्ण बदलाव किए। भारत सरकार अधिनियम, **1858** के तहत, भारत में शासन का नियंत्रण ईस्ट इंडिया कंपनी से ब्रिटिश ताज को हस्तांतरित कर दिया गया। महारानी विक्टोरिया ने एक घोषणा जारी की, जिसमें भारतीयों के साथ समान व्यवहार का वादा किया गया था। हालांकि, व्यवहार में, भेदभावपूर्ण नीतियां जारी रहीं, और भारतीयों के बीच असंतोष बढ़ता रहा। इस प्रकार, औपनिवेशिक प्रभाव और भारतीय प्रतिक्रिया ने एक ऐसी स्थिति पैदा की जिसने भारतीय राष्ट्रवाद के विकास के लिए उपजाऊ जमीन प्रदान की। **19**वीं शताब्दी के अंत तक, भारत में एक सुसंगठित राष्ट्रवादी आंदोलन उभर रहा था, जो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के साथ चरम पर पहुंचा।

सामाजिक और धार्मिक सुधार आंदोलन

19वीं शताब्दी में भारत में कई सामाजिक और धार्मिक सुधार आंदोलन उभरे, जिन्होंने बाद में राष्ट्रवादी आंदोलन के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ये आंदोलन भारतीय समाज में व्याप्त सामाजिक बुराइयों और अंधविश्वासों के प्रति एक प्रतिक्रिया थे, और उनका उद्देश्य समाज को सुधारना और आधुनिक बनाना था। वे भारतीय परंपराओं और मूल्यों के प्रति एक नवीन गर्व की भावना भी लाए, जो राष्ट्रवादी विचारधारा का एक महत्वपूर्ण घटक बन गई। इन सुधार आंदोलनों में से सबसे महत्वपूर्ण था ब्रह्म समाज, जिसकी स्थापना **1828** में राजा राम मोहन राय ने की थी। राजा राम मोहन राय, जिन्हें अक्सर 'आधुनिक भारत का जनक' कहा जाता है, एक उदार और प्रगतिशील विचारक थे। वे हिंदू धर्म में सुधार लाना चाहते थे और सती प्रथा, बाल विवाह और जाति भेदभाव जैसी सामाजिक बुराइयों को समाप्त करना चाहते थे। उन्होंने महिला शिक्षा और विधवा पुनर्विवाह का समर्थन किया। उनके प्रयासों के कारण, **1829** में सती प्रथा को कानूनी रूप से समाप्त कर दिया गया। राय ने पश्चिमी और भारतीय दोनों शिक्षा प्रणालियों के महत्व पर जोर दिया। उन्होंने **1817** में कलकत्ता में हिंदू कॉलेज (बाद में प्रेसीडेंसी कॉलेज) की स्थापना में मदद की, जो अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार में अग्रणी था। उन्होंने **1822** में एक बंगाली साप्ताहिक संवाद कौमुदी भी शुरू किया, जो सामाजिक और राजनीतिक मुद्दों पर चर्चा के लिए एक मंच बन गया। ब्रह्म समाज का काम राय के बाद देवेंद्रनाथ टैगोर और केशव चंद्र सेन जैसे नेताओं द्वारा जारी रखा गया। उन्होंने हिंदू धर्म में सुधार के लिए अपने प्रयासों को जारी रखा और शिक्षा और सामाजिक सुधारों को बढ़ावा दिया। ब्रह्म समाज के विचारों ने भारत के विभिन्न हिस्सों में बुद्धिजीवियों और सुधारकों को प्रभावित किया और सामाजिक सुधारों की लहर को जन्म दिया। महाराष्ट्र में, ज्योतिबा फुले ने **1873** में सत्यशोधक समाज की स्थापना की। फुले जाति व्यवस्था और ब्राह्मणवादी वर्चस्व के कट्टर आलोचक थे। उन्होंने दलितों और महिलाओं के लिए शिक्षा को बढ़ावा दिया और सामाजिक समानता के लिए लड़े। उन्होंने **1848** में अपनी पत्नी सावित्रीबाई फुले के साथ पुणे में लड़कियों के लिए पहला स्कूल खोला।



उनका मानना था कि सामाजिक न्याय और समानता के बिना सच्चा राष्ट्रवाद नहीं हो सकता। आर्य समाज, जिसकी स्थापना **1875** में स्वामी दयानंद सरस्वती ने की थी, एक और प्रभावशाली सुधार आंदोलन था। स्वामी दयानंद का नारा 'वेदों की ओर लौटो' था। उन्होंने हिंदू धर्म में बाद में जोड़े गए अंधविश्वासों और कुरीतियों की आलोचना की और वेदों की शिक्षाओं की मूल शुद्धता पर लौटने का आह्वान किया। उन्होंने जाति व्यवस्था, मूर्ति पूजा और बाल विवाह जैसी प्रथाओं की आलोचना की। उन्होंने शिक्षा, विशेष रूप से महिला शिक्षा को भी बढ़ावा दिया। आर्य समाज की शिक्षाएँ राष्ट्रवादी आंदोलन पर गहरा प्रभाव डालती थीं। उन्होंने भारतीय संस्कृति और परंपराओं के प्रति गर्व की भावना पैदा की और विदेशी शासन से मुक्ति की आवश्यकता पर जोर दिया। स्वामी दयानंद की पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश' एक आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करती है जो कई धर्मों और विश्वास प्रणालियों का मूल्यांकन करती है और ईसाई मिशनरियों के भारत में प्रभाव का मुकाबला करने में महत्वपूर्ण थी। रामकृष्ण मिशन, जिसकी स्थापना स्वामी विवेकानंद ने अपने गुरु रामकृष्ण परमहंस के सम्मान में की थी, एक और महत्वपूर्ण आंदोलन था। स्वामी विवेकानंद ने हिंदू धर्म का एक उदार और सार्वभौमिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया, जो सभी धर्मों के प्रति सहिष्णु था। उन्होंने **1893** में शिकागो में विश्व धर्म संसद में अपने भाषण से दुनिया का ध्यान आकर्षित किया, जहां उन्होंने हिंदू धर्म के सार्वभौमिक संदेश को प्रस्तुत किया। विवेकानंद ने भारतीय युवाओं में राष्ट्रवादी जोश भरा। उन्होंने भारतीयों को अपनी सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विरासत पर गर्व करने के लिए प्रोत्साहित किया और उन्हें राष्ट्र निर्माण में सक्रिय भूमिका निभाने के लिए प्रेरित किया।

इकाई 6: क्रांतिकारी आंदोलन

भारत का क्रांतिकारी आंदोलन स्वतंत्रता संग्राम का एक महत्वपूर्ण अध्याय रहा है। यह आंदोलन ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष का प्रतीक था। **19**वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर **20**वीं शताब्दी के मध्य तक चले इस आंदोलन ने भारत के युवाओं को एक नई राह दिखाई और स्वतंत्रता की अलख जगाई। यह आंदोलन अपने समय की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों का प्रतिफल था। सशस्त्र विद्रोह के माध्यम से ब्रिटिश सत्ता को उखाड़ फेंकने का संकल्प रखने वाले इन क्रांतिकारियों ने अपने प्राणों की आहुति देकर भी देश के लिए एक नया इतिहास रचा। क्रांतिकारी आंदोलन का इतिहास वीरता, बलिदान और अदम्य साहस की गाथा है जिसने राष्ट्रीय आंदोलन को एक नई दिशा प्रदान की। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में क्रांतिकारी आंदोलन की भूमिका को समझने के लिए हमें उस समय के सामाजिक-राजनीतिक परिवेश का विश्लेषण करना होगा। **1857** के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के बाद, ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों पर अपना नियंत्रण और कड़ा कर दिया था। दमनकारी नीतियां, आर्थिक शोषण, और सांस्कृतिक हस्तक्षेप ने भारतीय जनमानस में असंतोष की भावना को जन्म दिया। इसी असंतोष ने क्रांतिकारी विचारधारा के विकास के लिए उपजाऊ भूमि तैयार की। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नरमपंथी नेतृत्व

से निराश होकर, कई युवाओं ने सशस्त्र संघर्ष के मार्ग को अपनाया। यह मार्ग न केवल ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध एक प्रतिरोध था, बल्कि स्वतंत्रता की एक नई परिभाषा भी थी।

क्रांतिकारी आंदोलन का इतिहास अनेक चरणों और आयामों से गुजरा है। प्रारंभिक चरण में यह आंदोलन मुख्य रूप से बंगाल, महाराष्ट्र और पंजाब तक सीमित था, जबकि बाद में यह पूरे देश में फैल गया। आंदोलन के विकास के साथ-साथ इसकी रणनीतियों और विचारधाराओं में भी परिवर्तन आया। प्रारंभ में व्यक्तिगत हत्याओं और छोटे-छोटे विद्रोहों पर केंद्रित यह आंदोलन कालांतर में एक व्यापक क्रांतिकारी आंदोलन का रूप ले चुका था, जिसका उद्देश्य भारत में ब्रिटिश राज का पूर्ण उन्मूलन था। इस अध्याय में हम क्रांतिकारी आंदोलन के उद्भव, विकास, महत्वपूर्ण घटनाओं, प्रमुख नेताओं और संगठनों, विचारधाराओं, और स्वतंत्रता संग्राम में इसके योगदान का विस्तृत विश्लेषण करेंगे। साथ ही, हम क्रांतिकारी आंदोलन के सामने आई चुनौतियों और इसकी सीमाओं पर भी प्रकाश डालेंगे। इस अध्ययन से हमें भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इस महत्वपूर्ण पहलू को गहराई से समझने में मदद मिलेगी।

क्रांतिकारी आंदोलन का उद्भव

भारत में क्रांतिकारी आंदोलन का उद्भव 19वीं शताब्दी के अंतिम दशकों में हुआ। यह समय भारतीय राष्ट्रवाद के विकास का महत्वपूर्ण काल था। 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के साथ, एक संगठित राजनीतिक आंदोलन का सूत्रपात हुआ। हालांकि, कांग्रेस के प्रारंभिक वर्षों में अपनाई गई नरमपंथी नीतियां कई युवाओं को निराश करने लगीं। याचिकाएं, प्रतिनिधिमंडल और संवैधानिक तरीकों से ब्रिटिश सरकार को प्रभावित करने के प्रयास अधिकांशतः निष्फल रहे। इसी निराशा ने एक अलग मार्ग की खोज की प्रेरणा दी, जिसका परिणाम क्रांतिकारी आंदोलन के रूप में सामने आया। क्रांतिकारी आंदोलन के उद्भव के पीछे कई कारक थे। सबसे पहला और सबसे महत्वपूर्ण कारण था ब्रिटिश शासन की दमनकारी नीतियां। 1857 के विद्रोह के बाद, ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों पर अपना नियंत्रण और कड़ा कर दिया था। प्रेस पर प्रतिबंध, राजनीतिक अधिकारों का हनन, और विरोध का निर्दयतापूर्वक दमन भारतीयों में गहरे असंतोष का कारण बना। 1905 में बंगाल के विभाजन ने इस असंतोष को और बढ़ावा दिया। लॉर्ड कर्जन द्वारा किया गया यह विभाजन न केवल एक प्रशासनिक कदम था, बल्कि 'फूट डालो और राज करो' की नीति का स्पष्ट प्रमाण भी था। इस घटना ने बंगाल में एक तीव्र राष्ट्रवादी भावना को जन्म दिया, जिसने कई युवाओं को क्रांतिकारी गतिविधियों की ओर प्रेरित किया। दूसरा महत्वपूर्ण कारण था भारतीय अर्थव्यवस्था का शोषण। ब्रिटिश औपनिवेशिक नीतियों ने भारतीय अर्थव्यवस्था को गंभीर रूप से प्रभावित किया था। भारतीय उद्योगों का विनाश, भारी कराधान, और प्राकृतिक संसाधनों का दोहन भारत की आर्थिक स्थिति को लगातार कमजोर कर रहा था। इससे बेरोजगारी बढ़ी और गरीबी का विस्तार हुआ। आर्थिक संकट से पीड़ित युवाओं में असंतोष बढ़ा, जिसने क्रांतिकारी



विचारधारा के विकास के लिए उपजाऊ भूमि तैयार की। तीसरा कारण था पश्चिमी शिक्षा और विचारों का प्रभाव। ब्रिटिश शासन ने भारत में पश्चिमी शिक्षा प्रणाली की शुरुआत की, जिसका उद्देश्य ब्रिटिश प्रशासन के लिए क्लर्क तैयार करना था। हालांकि, इस शिक्षा ने अनपेक्षित परिणाम दिए। पश्चिमी साहित्य, दर्शन और राजनीतिक विचारों के संपर्क में आने से भारतीय युवाओं में राष्ट्रवाद और स्वतंत्रता की भावना जागृत हुई। फ्रांसीसी क्रांति, अमेरिकी स्वतंत्रता संग्राम, और रूसी नारोदनिक आंदोलन से प्रेरित होकर, कई भारतीय युवाओं ने क्रांतिकारी मार्ग अपनाया।

चौथा कारण था धार्मिक और सांस्कृतिक पुनरुत्थान। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारत में कई धार्मिक और सामाजिक सुधार आंदोलन चल रहे थे। स्वामी विवेकानंद, दयानंद सरस्वती और अन्य विचारकों ने भारतीय संस्कृति और मूल्यों के महत्व पर जोर दिया। इन विचारकों ने भारतीयों में आत्मगौरव और स्वाभिमान की भावना जगाई, जिसने राष्ट्रवादी भावनाओं को मजबूत किया। विशेष रूप से स्वामी विवेकानंद के विचारों ने युवाओं को गहरा प्रभावित किया और उन्हें राष्ट्र सेवा के लिए प्रेरित किया। पांचवां कारण था अंतरराष्ट्रीय घटनाक्रमों का प्रभाव। 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में दुनिया भर में कई महत्वपूर्ण घटनाएं हो रही थीं। 1904-05 में जापान द्वारा रूस को पराजित करना एशियाई देशों के लिए एक प्रेरणा का स्रोत था। यह पहली बार था जब एक एशियाई शक्ति ने एक यूरोपीय शक्ति को युद्ध में हराया था। इस घटना ने भारतीयों में यह विश्वास जगाया कि वे भी ब्रिटिश साम्राज्य से लड़ सकते हैं और उसे हरा सकते हैं। इसी प्रकार, चीन में 1911 की क्रांति और रूस में 1917 की बोल्शेविक क्रांति ने भी भारतीय क्रांतिकारियों को प्रेरित किया। छठा कारण था ब्रिटिश सरकार के प्रति बढ़ता हुआ आक्रोश। 1919 में जलियांवाला बाग हत्याकांड ने भारतीयों के मन में ब्रिटिश शासन के प्रति गहरा आक्रोश पैदा किया। जनरल डायर के आदेश पर निहत्थे और शांतिपूर्ण प्रदर्शनकारियों पर की गई गोलीबारी में सैकड़ों लोग मारे गए और हजारों घायल हुए। इस क्रूर घटना ने पूरे देश में आक्रोश की लहर पैदा की और कई युवाओं को क्रांतिकारी मार्ग अपनाने के लिए प्रेरित किया। इन सभी कारकों के संयुक्त प्रभाव से भारत में क्रांतिकारी आंदोलन का उद्भव हुआ। इस आंदोलन का प्रारंभिक केंद्र बंगाल था, जहां अनुशीलन समिति और युगांतर जैसे संगठनों की स्थापना हुई। इन संगठनों का उद्देश्य युवाओं को शारीरिक और मानसिक रूप से तैयार करना और उन्हें क्रांतिकारी गतिविधियों के लिए प्रशिक्षित करना था। धीरे-धीरे यह आंदोलन पंजाब, महाराष्ट्र और उत्तर भारत के अन्य हिस्सों में भी फैल गया। अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग संगठन और नेता सामने आए, लेकिन सभी का लक्ष्य एक ही था - भारत को ब्रिटिश शासन से मुक्त कराना।

क्रांतिकारी आंदोलन के प्रारंभिक चरण में, क्रांतिकारियों की गतिविधियां मुख्य रूप से व्यक्तिगत हत्याओं और छोटे-छोटे विद्रोहों तक सीमित थीं। उन्होंने ब्रिटिश अधिकारियों, पुलिस अधिकारियों और भारतीय सहयोगियों को अपना निशाना बनाया। उनका मानना था कि इन हत्याओं से ब्रिटिश शासन में दहशत फैलेगी और भारतीय जनता में क्रांतिकारी भावना जागृत होगी। हालांकि, ये

गतिविधियां अधिकांशतः असंगठित और अलग-थलग थीं, जिसके कारण इनका प्रभाव सीमित रहा। क्रांतिकारी आंदोलन के प्रारंभिक नेताओं में खुदीराम बोस, प्रफुल्ल चाकी, और वासुदेव बलवंत फड़के प्रमुख थे। वासुदेव बलवंत फड़के ने 1879 में महाराष्ट्र में ब्रिटिश अधिकारियों के खिलाफ सशस्त्र विद्रोह का नेतृत्व किया था। वे आधुनिक भारत के प्रथम क्रांतिकारी माने जाते हैं। खुदीराम बोस और प्रफुल्ल चाकी ने 1908 में मुजफ्फरपुर में किंग्सफोर्ड नामक एक ब्रिटिश न्यायाधीश की हत्या का प्रयास किया था। हालांकि वे अपने लक्ष्य में विफल रहे और गलती से दो अंग्रेज महिलाओं की हत्या हो गई। इस घटना के बाद प्रफुल्ल चाकी ने आत्महत्या कर ली और खुदीराम बोस को फांसी दे दी गई। इन घटनाओं ने पूरे देश में हलचल मचा दी और कई युवाओं को क्रांतिकारी मार्ग अपनाने के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार, 19वीं शताब्दी के अंत और 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में विभिन्न कारकों के प्रभाव से भारत में क्रांतिकारी आंदोलन का उद्भव हुआ। यह आंदोलन भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का एक महत्वपूर्ण अध्याय बन गया, जिसने अपने बलिदानों और संघर्षों से देश के स्वतंत्रता आंदोलन को एक नई दिशा प्रदान की।

प्रमुख क्रांतिकारी संगठन और उनकी गतिविधियां

भारत के क्रांतिकारी आंदोलन में विभिन्न संगठनों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ये संगठन देश के विभिन्न हिस्सों में क्रांतिकारी गतिविधियों का संचालन करते थे। इन संगठनों का मुख्य उद्देश्य युवाओं को संगठित करना, उन्हें प्रशिक्षित करना और ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष चलाना था। आइए भारत के प्रमुख क्रांतिकारी संगठनों और उनकी गतिविधियों पर विस्तार से चर्चा करें।

अनुशीलन समिति

अनुशीलन समिति भारत के सबसे पुराने और प्रभावशाली क्रांतिकारी संगठनों में से एक थी। इसकी स्थापना 1902 में बंगाल में प्रमथ मित्र और जतीन्द्रनाथ बनर्जी द्वारा की गई थी। अनुशीलन शब्द का अर्थ है 'अनुशासन' या 'आत्म-नियंत्रण'। इस संगठन का मुख्य उद्देश्य युवाओं को शारीरिक और मानसिक रूप से तैयार करना और उन्हें क्रांतिकारी गतिविधियों के लिए प्रशिक्षित करना था। अनुशीलन समिति के सदस्यों को कठोर अनुशासन और शारीरिक व्यायाम का प्रशिक्षण दिया जाता था। साथ ही, उन्हें हथियार चलाने और बम बनाने का प्रशिक्षण भी दिया जाता था। समिति के सदस्य हिंदू धार्मिक ग्रंथों, विशेष रूप से भगवद गीता से प्रेरणा लेते थे। वे गीता के 'निष्काम कर्म' के सिद्धांत में विश्वास रखते थे और मानते थे कि देश की स्वतंत्रता के लिए बलिदान देना उनका धार्मिक कर्तव्य है। 1905 में बंगाल विभाजन के बाद, अनुशीलन समिति की गतिविधियां तीव्र हो गईं। समिति के सदस्य ब्रिटिश अधिकारियों और भारतीय सहयोगियों पर हमले करने लगे। 1908 में, समिति के सदस्यों खुदीराम बोस और प्रफुल्ल चाकी ने मुजफ्फरपुर में किंग्सफोर्ड नामक एक ब्रिटिश न्यायाधीश की हत्या का प्रयास किया। हालांकि, वे अपने लक्ष्य में विफल रहे और गलती से दो अंग्रेज महिलाओं की हत्या हो गई। इस घटना के बाद ब्रिटिश सरकार



ने अनुशीलन समिति के खिलाफ कड़ी कार्रवाई की और बड़ी संख्या में समिति के सदस्यों को गिरफ्तार कर लिया। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान, अनुशीलन समिति के नेता राजभवन सेन और जतीन्द्रनाथ मुखर्जी (बागा जतिन) ने जर्मनी से हथियार प्राप्त करने का प्रयास किया। उनका उद्देश्य था कि जर्मनी से प्राप्त हथियारों से वे ब्रिटिश सरकार के खिलाफ एक बड़ा विद्रोह कर सकें। हालांकि, यह योजना विफल हो गई और बागा जतिन **1915** में बालासोर के जंगलों में पुलिस के साथ मुठभेड़ में मारे गए। **1920** के दशक में, अनुशीलन समिति के कई सदस्य महात्मा गांधी के असहयोग आंदोलन से प्रभावित हुए और कांग्रेस में शामिल हो गए। हालांकि, कुछ सदस्य क्रांतिकारी गतिविधियों में संलग्न रहे। **1930** के दशक में, समिति के कई सदस्य सुभाष चंद्र बोस के साथ जुड़े और द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान आजाद हिंद फौज में शामिल हो गए।

युगांतर

युगांतर एक अन्य प्रमुख क्रांतिकारी संगठन था जिसकी स्थापना **1906** में बंगाल में हुई थी। इसके संस्थापक भूपेंद्रनाथ दत्त और बारीन्द्र कुमार घोष थे। युगांतर का अर्थ है 'नया युग' या 'परिवर्तन'। इस संगठन का उद्देश्य भारत में ब्रिटिश राज का अंत करना और एक नए युग की शुरुआत करना था। युगांतर के सदस्य भी अनुशीलन समिति की तरह कठोर अनुशासन और शारीरिक व्यायाम का प्रशिक्षण लेते थे। हालांकि, युगांतर की विचारधारा अधिक क्रांतिकारी थी। वे सशस्त्र विद्रोह के माध्यम से ब्रिटिश राज को उखाड़ फेंकने में विश्वास रखते थे। युगांतर के सदस्य रूसी नारोदनिक आंदोलन से प्रेरित थे और बम बनाने और हथियार चलाने का प्रशिक्षण लेते थे। **1908** में, युगांतर के सदस्यों ने मुजफ्फरपुर बम कांड में भाग लिया। इसके बाद, ब्रिटिश सरकार ने युगांतर के खिलाफ कड़ी कार्रवाई की और अलीपुर षड्यंत्र केस चलाया। इस मामले में, संगठन के **34** सदस्यों को गिरफ्तार किया गया, जिनमें बारीन्द्र कुमार घोष और उल्लासकर दत्त भी शामिल थे। मुकदमे के दौरान, युगांतर के एक सदस्य नरेंद्र गोसांई ने अदालत में मुखबिरी करने वाले नरेंद्र गोसांई की हत्या कर दी। इस घटना ने ब्रिटिश सरकार को हिला दिया और युगांतर की प्रतिष्ठा बढ़ गई। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान, युगांतर के सदस्यों ने जर्मनी के साथ संपर्क स्थापित करने का प्रयास किया। उनका उद्देश्य जर्मनी से हथियार प्राप्त करना और ब्रिटिश सरकार के खिलाफ एक बड़ा विद्रोह करना था। हालांकि, यह योजना भी विफल हो गई। **1923** में, युगांतर के सदस्यों ने 'भविष्यत भारत' नामक एक अखबार शुरू किया, जिसके माध्यम से वे अपने क्रांतिकारी विचारों का प्रचार करते थे। **1930** के दशक में, युगांतर के कई सदस्य भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़ गए और उन्होंने अपनी क्रांतिकारी गतिविधियों को कम्युनिस्ट विचारधारा के साथ जोड़ दिया।

हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन (एचआरए)

हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन (एचआरए) का गठन **1924** में कानपुर में हुआ था। इसके संस्थापक राम प्रसाद बिस्मिल, अशफाकउल्ला खान, रोशन सिंह और राजेंद्र लाहिड़ी थे। एचआरए

का उद्देश्य भारत में एक गणतंत्र की स्थापना करना था। वे मानते थे कि भारत में ब्रिटिश राज का अंत केवल सशस्त्र क्रांति के माध्यम से ही संभव है।

इकाई 7: विदेशों में क्रांतिकारी कार्य और क्रांतिकारी आन्दोलन का मूल्यांकन

19वीं शताब्दी के अंत और **20वीं** शताब्दी के प्रारंभ में भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का एक महत्वपूर्ण अध्याय विदेशों में संचालित क्रांतिकारी गतिविधियों से जुड़ा है। भारतीय क्रांतिकारियों ने अपने देश की आज़ादी के लिए न केवल भारत की धरती पर बल्कि विदेशी भूमि पर भी संघर्ष किया। इन क्रांतिकारियों ने भारत से बाहर रहकर भी अपने मातृभूमि के प्रति अपने कर्तव्य को कभी नहीं भुलाया और अंग्रेज़ी हुकूमत को उखाड़ फेंकने के लिए निरंतर प्रयासरत रहे। विदेशों में क्रांतिकारी गतिविधियों का विस्तार यूरोप, अमेरिका और एशिया के विभिन्न देशों में हुआ। इन देशों में स्थित क्रांतिकारी केंद्रों ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को एक नई दिशा और गति प्रदान की। विदेशों में संचालित क्रांतिकारी गतिविधियों का मुख्य उद्देश्य भारत में चल रहे स्वतंत्रता आंदोलन को बाहरी समर्थन और सहायता प्रदान करना था। इसके अलावा, इन क्रांतिकारियों ने अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भारतीय स्वतंत्रता की मांग को उठाने और विश्व जनमत को अपने पक्ष में करने का भी प्रयास किया। विदेशी धरती पर स्थापित क्रांतिकारी संगठनों ने भारत में सशस्त्र क्रांति के लिए धन, हथियार और प्रशिक्षण की व्यवस्था करने के साथ-साथ प्रचार सामग्री और साहित्य के प्रकाशन का भी कार्य किया। इस प्रकार, विदेशों में क्रांतिकारी कार्यों ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को एक वैश्विक आयाम प्रदान किया। इस अध्याय में हम विदेशों में भारतीय क्रांतिकारियों द्वारा संचालित विभिन्न गतिविधियों, उनके संगठनों, उनके द्वारा प्रयुक्त रणनीतियों और भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में उनके योगदान का विस्तृत विश्लेषण करेंगे। साथ ही, हम समग्र क्रांतिकारी आंदोलन के प्रभाव, सीमाओं और ऐतिहासिक महत्व का मूल्यांकन भी करेंगे।

विदेशों में क्रांतिकारी केंद्रों की स्थापना और विकास

प्रारंभिक चरण (1900-1914)

20वीं शताब्दी के आरंभ में ही विदेशों में भारतीय क्रांतिकारी केंद्रों की स्थापना का क्रम शुरू हो गया था। इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, अमेरिका और जापान जैसे देशों में भारतीय छात्रों और प्रवासियों के बीच राष्ट्रवादी विचारधारा का प्रसार हुआ और वे अपने देश की स्वतंत्रता के लिए संगठित होने लगे। इस काल में श्यामजी कृष्ण वर्मा, मैडम भीकाजी कामा, वीर सावरकर, लाला हरदयाल और तारकनाथ दास जैसे क्रांतिकारियों ने विदेशों में क्रांतिकारी आंदोलन की नींव रखी। **1905** में श्यामजी कृष्ण वर्मा ने लंदन में 'इंडिया हाउस' की स्थापना की, जो ब्रिटेन में भारतीय क्रांतिकारियों का प्रमुख केंद्र बन गया। इंडिया हाउस के माध्यम से 'इंडियन सोशियोलॉजिस्ट' पत्रिका का प्रकाशन आरंभ हुआ, जिसने क्रांतिकारी विचारों के प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसी दौरान मैडम भीकाजी कामा ने पेरिस में अपना ठिकाना बनाया और वहां से 'वंदे मातरम' और



'तलवार' जैसे क्रांतिकारी पत्रों का प्रकाशन किया। 1907 में स्टुटगार्ट में आयोजित अंतरराष्ट्रीय समाजवादी कांग्रेस में उन्होंने पहली बार तिरंगा फहराकर भारत की स्वतंत्रता की मांग को अंतरराष्ट्रीय मंच पर उठाया। इसी समय वीर सावरकर ने लंदन में 'अभिनव भारत' की शाखा स्थापित की और 'फ्री इंडिया सोसाइटी' का गठन किया। उन्होंने अपनी पुस्तक '1857 का स्वतंत्रता संग्राम' के माध्यम से प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के क्रांतिकारी चरित्र को उजागर किया। सावरकर ने ब्रिटिश पुस्तकालयों और अभिलेखागारों में अनुसंधान करके भारतीय क्रांतिकारियों के लिए ऐतिहासिक सामग्री और प्रेरणा स्रोत जुटाए। अमेरिका में लाला हरदयाल और तारकनाथ दास ने क्रांतिकारी गतिविधियों का संचालन किया। लाला हरदयाल ने कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय में अध्यापन के दौरान भारतीय छात्रों में राष्ट्रवादी विचारों का प्रसार किया और बाद में 'गदर पार्टी' की स्थापना में अग्रणी भूमिका निभाई। तारकनाथ दास ने 'फ्री हिंदुस्तान' नामक पत्रिका प्रकाशित की और अमेरिका में बसे भारतीय प्रवासियों को संगठित करने का प्रयास किया।

प्रथम विश्व युद्ध का काल (1914-1918)

प्रथम विश्व युद्ध के दौरान विदेशों में भारतीय क्रांतिकारी गतिविधियां और अधिक तीव्र हो गईं। इस काल में 'गदर आंदोलन', 'बर्लिन समिति' और 'भारतीय स्वतंत्रता समिति' जैसे संगठनों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन संगठनों ने ब्रिटिश साम्राज्य के विरोधी देशों, विशेषकर जर्मनी और तुर्की, से सहयोग प्राप्त करने का प्रयास किया। अमेरिका में गदर पार्टी की स्थापना 1913 में सैन फ्रांसिस्को में हुई थी, जिसका नेतृत्व लाला हरदयाल, सोहन सिंह भकना और करतार सिंह सराभा जैसे क्रांतिकारियों ने किया। गदर पार्टी ने 'गदर' नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन शुरू किया, जो पंजाबी, उर्दू और अन्य भारतीय भाषाओं में छपता था। प्रथम विश्व युद्ध के आरंभ होने पर गदर पार्टी ने भारत में सशस्त्र विद्रोह की योजना बनाई और हजारों भारतीय प्रवासी स्वयंसेवक भारत वापस आए। हालांकि, ब्रिटिश खुफिया विभाग की सतर्कता के कारण यह योजना पूरी तरह सफल नहीं हो सकी और कई गदरी क्रांतिकारी गिरफ्तार कर लिए गए या मार दिए गए। जर्मनी में विरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय और भूपेंद्रनाथ दत्त के नेतृत्व में 'बर्लिन समिति' (भारतीय स्वतंत्रता समिति) की स्थापना हुई। इस समिति ने जर्मन सरकार से सहायता प्राप्त करके भारत में क्रांति लाने की योजना बनाई। राजा महेंद्र प्रताप और मौलवी बरकतुल्ला ने काबुल में 'अस्थायी भारत सरकार' की स्थापना की और अफगानिस्तान के साथ मिलकर ब्रिटिश भारत पर हमला करने की योजना बनाई। इसी दौरान रासबिहारी बोस और अब्दुल रहीम जापान पहुंचे और वहां भारतीय स्वतंत्रता के लिए समर्थन जुटाने का प्रयास किया। जर्मनी, तुर्की और अन्य देशों में बंदी बनाए गए भारतीय सैनिकों को स्वतंत्रता संग्राम में शामिल करने के लिए भी प्रयास किए गए।

अंतरयुद्धकालीन अवधि (1919-1939)

प्रथम विश्व युद्ध के बाद विदेशों में भारतीय क्रांतिकारी गतिविधियों का केंद्र यूरोप से अमेरिका और एशिया की ओर स्थानांतरित होने लगा। इस काल में 'हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन', 'किरती दल', 'गदर पार्टी का पुनर्गठन', और 'इंडियन इंडिपेंडेंस लीग' जैसे संगठनों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1920 के दशक में राष्ट्रवादी नेता सुभाष चंद्र बोस ने यूरोप के विभिन्न देशों का दौरा किया और वहां पर भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के लिए समर्थन जुटाने का प्रयास किया। उन्होंने विएना, प्राग, बर्लिन और अन्य यूरोपीय शहरों में भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के बारे में प्रचार किया। इसी दौरान वियना में 'इंडियन इन्फॉर्मेशन ब्यूरो' की स्थापना हुई, जिसने यूरोप में भारत की स्थिति के बारे में जानकारी प्रसारित की। अमेरिका में गदर पार्टी का पुनर्गठन हुआ और उसने साम्राज्यवाद विरोधी और कम्युनिस्ट विचारधारा को अपनाया। इस काल में गदर पार्टी ने सोवियत संघ और चीन में समाजवादी क्रांतियों से प्रेरित होकर भारत में सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन के लिए भी आवाज उठाई। 'किरती' नामक पत्रिका के माध्यम से कम्युनिस्ट विचारों का प्रचार किया गया और भारत में किरती किसान पार्टी की स्थापना में सहयोग दिया गया। जापान में रासबिहारी बोस ने 'इंडियन इंडिपेंडेंस लीग' की स्थापना की और 'द न्यू एशिया' पत्रिका के माध्यम से एशियाई एकता और स्वतंत्रता का संदेश फैलाया। वे जापानी नेताओं से संपर्क बनाए रखने में सफल रहे और भारतीय स्वतंत्रता के लिए जापानी समर्थन जुटाने का प्रयास करते रहे। 1930 के दशक में लंदन में कृष्ण मेनन, वी.के. कृष्ण मेनन और अन्य युवा भारतीयों ने 'इंडिया लीग' की स्थापना की, जिसने ब्रिटिश जनमत को भारतीय स्वतंत्रता के पक्ष में करने का प्रयास किया। इसी दौरान जवाहरलाल नेहरू, सुभाष चंद्र बोस और अन्य भारतीय नेताओं ने अंतरराष्ट्रीय मंचों पर भारत की आवाज उठाई और विभिन्न देशों के राष्ट्रवादी और साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलनों से संपर्क स्थापित किया।

द्वितीय विश्व युद्ध का काल (1939-1945)

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान विदेशों में भारतीय क्रांतिकारी गतिविधियों का नेतृत्व मुख्य रूप से सुभाष चंद्र बोस ने किया। उन्होंने जर्मनी और जापान जैसे ब्रिटिश-विरोधी देशों से सहयोग प्राप्त करके भारत को स्वतंत्र कराने की योजना बनाई। बोस ने 'आजाद हिंद फौज' (इंडियन नेशनल आर्मी) का गठन किया और 'दिल्ली चलो' का नारा दिया। सुभाष चंद्र बोस 1941 में भारत से भागकर अफगानिस्तान, सोवियत संघ और जर्मनी होते हुए 1943 में जापान पहुंचे। जर्मनी में रहते हुए उन्होंने 'आजाद हिंद रेडियो' की स्थापना की और भारतीयों को ब्रिटिश शासन के खिलाफ विद्रोह के लिए प्रेरित करने वाले प्रसारण किए। जापान पहुंचने के बाद, बोस ने सिंगापुर में 'आजाद हिंद सरकार' की स्थापना की और जापानी सहयोग से आजाद हिंद फौज का विस्तार किया। आजाद हिंद फौज ने 1944 में भारत के पूर्वोत्तर क्षेत्र में प्रवेश किया और आईम्फाल और कोहिमा के युद्धों में भाग लिया। हालांकि, जापानी सेना की हार के साथ आजाद हिंद फौज को भी पीछे हटना पड़ा। फिर भी, आजाद हिंद फौज का गठन और उसके युद्ध अभियान ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को एक नई दिशा और प्रेरणा दी। इसी दौरान अमेरिका में 'इंडिया लीग' और 'इंडियन



नेशनल कांग्रेस (अमेरिका) जैसे संगठनों ने भारतीय स्वतंत्रता के लिए अमेरिकी जनमत को प्रभावित करने का प्रयास किया। इन संगठनों ने अमेरिकी सरकार पर दबाव डाला कि वह ब्रिटेन को भारत को स्वतंत्र करने के लिए प्रेरित करे।

विदेशों में क्रांतिकारी साहित्य और प्रचार कार्य

विदेशों में भारतीय क्रांतिकारियों द्वारा साहित्य लेखन और प्रचार कार्य स्वतंत्रता संग्राम का एक महत्वपूर्ण पहलू था। इन प्रकाशनों के माध्यम से न केवल भारतीयों में राष्ट्रीय चेतना जागृत की गई बल्कि अंतरराष्ट्रीय समुदाय को भी भारत की स्थिति से अवगत कराया गया। क्रांतिकारी पत्र-पत्रिकाएं विदेशों में भारतीय क्रांतिकारियों द्वारा अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन किया गया, जिनमें प्रमुख थे:

1. इंडियन सोशियोलॉजिस्ट: श्यामजी कृष्ण वर्मा द्वारा लंदन से प्रकाशित यह पत्रिका भारतीय क्रांतिकारी विचारधारा का प्रमुख वाहक बनी। इसमें ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की आलोचना की जाती थी और भारतीयों को स्वतंत्रता संग्राम के लिए प्रेरित किया जाता था।
2. वंदे मातरम: मैडम भीकाजी कामा द्वारा पेरिस से प्रकाशित इस पत्रिका ने भारतीय क्रांतिकारियों के विचारों और गतिविधियों का प्रचार किया। इसमें भारत में होने वाले अत्याचारों का विवरण और क्रांतिकारी आंदोलन की प्रगति के बारे में जानकारी दी जाती थी।
3. तलवार: मैडम कामा के प्रयासों से ही प्रकाशित होने वाली यह पत्रिका मुख्य रूप से भारतीय सैनिकों को संबोधित थी, जिसमें उन्हें ब्रिटिश सेना में विद्रोह करने के लिए प्रेरित किया जाता था।
4. गदर: अमेरिका से प्रकाशित होने वाला यह साप्ताहिक पत्र गदर पार्टी का मुखपत्र था। इसे पंजाबी, उर्दू, हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं में प्रकाशित किया जाता था। इसमें क्रांतिकारी कविताएं, लेख और ब्रिटिश शासन के विरुद्ध विद्रोह का आह्वान किया जाता था।
5. फ्री हिंदुस्तान: तारकनाथ दास द्वारा अमेरिका से प्रकाशित यह पत्रिका भारतीय स्वतंत्रता के पक्ष में जनमत तैयार करने का कार्य करती थी।
6. किरती: गदर पार्टी के पुनर्गठन के बाद प्रकाशित होने वाली यह पत्रिका मुख्य रूप से भारतीय किसान और मजदूर वर्ग को संबोधित थी और उसमें मार्क्सवादी विचारधारा का प्रचार किया जाता था।
7. द न्यू एशिया: रासबिहारी बोस द्वारा जापान से प्रकाशित इस पत्रिका में एशियाई एकता और स्वतंत्रता का संदेश दिया जाता था।

इन पत्र-पत्रिकाओं के अलावा, 'इंडिया', 'इंडियन इंडिपेंडेंट', 'भारत माता', 'इंडियन लिबर्टी' आदि

अनेक प्रकाशन विभिन्न देशों से निकलते थे, जो भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की आवाज को बुलंद करते थे।

पुस्तकें और पुस्तिकाएं

विदेशों में भारतीय क्रांतिकारियों ने अनेक महत्वपूर्ण पुस्तकें और पुस्तिकाएं भी प्रकाशित कीं, जिनमें से कुछ प्रमुख थीं:

1. **1857 का स्वतंत्रता संग्राम:** वी.डी. सावरकर द्वारा लिखित यह पुस्तक **1909** में लंदन से प्रकाशित हुई। इसमें **1857** के विद्रोह को प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के रूप में प्रस्तुत किया गया था। ब्रिटिश सरकार ने इस पुस्तक पर प्रतिबंध लगा दिया था।
2. भारत में अंग्रेजी शासन: श्यामजी कृष्ण वर्मा द्वारा लिखित इस पुस्तक में ब्रिटिश शासन के अत्याचारों और शोषण का विस्तृत विवरण दिया गया था।
3. गदर दी गूंज: लाला हरदयाल और अन्य गदर नेताओं द्वारा लिखित इस पुस्तक में क्रांतिकारी कविताएं और लेख संकलित थे, जो भारतीयों को स्वतंत्रता संग्राम के लिए प्रेरित करते थे।
4. बम का दर्शनशास्त्र: भाई परमानंद द्वारा लिखित इस पुस्तिका में क्रांतिकारी हिंसा का समर्थन किया गया था और बम बनाने की विधि बताई गई थी।
5. इंडिया फॉर इंडियंस: लाला लाजपत राय द्वारा अमेरिका में प्रवास के दौरान लिखित यह पुस्तक भारतीय राष्ट्रवाद का प्रमुख दस्तावेज बनी।

रेडियो प्रसारण

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान सुभाष चंद्र बोस ने 'आजाद हिंद रेडियो' की स्थापना की, जिसके माध्यम से वे भारतीयों को संबोधित करते थे। जर्मनी और जापान से प्रसारित होने वाले इन कार्यक्रमों में बोस भारतीयों को ब्रिटिश शासन के खिलाफ विद्रोह के लिए प्रेरित करते थे। उनके भाषण और 'दिल्ली चलो' का नारा भारतीयों में राष्ट्रीय भावना जगाने में सफल रहे। लंदन स्थित 'इंडिया हाउस' 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में ब्रिटेन में भारतीय क्रांतिकारी गतिविधियों का प्रमुख केंद्र था। श्यामजी कृष्ण वर्मा द्वारा **1905** में स्थापित इस संस्था ने भारतीय छात्रों को छात्रवृत्तियां प्रदान करके उन्हें स्वदेश में क्रांतिकारी गतिविधियों के लिए प्रशिक्षित किया। इंडिया हाउस में रहने वाले छात्रों में वी.डी. सावरकर, मदनलाल धींगरा, विरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय और लाला हरदयाल जैसे बाद में प्रसिद्ध हुए क्रांतिकारी शामिल थे। इंडिया हाउस से प्रकाशित 'इंडियन सोशियोलॉजिस्ट' पत्रिका ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के प्रति वैचारिक प्रतिबद्धता का प्रसार किया। इस पत्रिका में स्वतंत्रता, राष्ट्रवाद और क्रांतिकारी विचारधारा पर गंभीर लेख प्रकाशित होते थे। श्यामजी कृष्ण वर्मा ने 'भारतीय स्वराज्य समिति' का भी गठन किया, जिसमें अनेक प्रवासी भारतीय शामिल हुए। वी.डी. सावरकर ने **1906** में लंदन में 'अभिनव भारत' की शाखा स्थापित की, जो पुणे में स्थापित



मूल संगठन का विस्तार था। अभिनव भारत के सदस्य बम और हथियार बनाने की विधि सीखते थे और भारत में सशस्त्र क्रांति लाने की योजना बनाते थे। सावरकर ने '1857 का स्वतंत्रता संग्राम' पुस्तक लिखकर भारतीयों में राष्ट्रीय चेतना जगाने का प्रयास किया। 1909 में मदनलाल धींगरा द्वारा लंदन में भारत के लिए राज्य सचिव के सहायक सर विलियम कर्जन वायली की हत्या ने ब्रिटिश सरकार को हिला दिया। इसके बाद ब्रिटिश सरकार ने इंडिया हाउस की गतिविधियों पर कड़ी नज़र रखना शुरू कर दिया और अंततः श्यामजी कृष्ण वर्मा को लंदन छोड़कर पेरिस जाना पड़ा। सावरकर को 1910 में गिरफ्तार किया गया और भारत भेज दिया गया।

पेरिस केंद्र और भारत माता समिति

श्यामजी कृष्ण वर्मा के लंदन छोड़ने के बाद पेरिस क्रांतिकारी गतिविधियों का महत्वपूर्ण केंद्र बन गया। यहां मैडम भीकाजी कामा, श्यामजी कृष्ण वर्मा और सरदार सिंह राणा ने 'भारत माता समिति' (पेरिस इंडियन सोसाइटी) की स्थापना की। इस समिति ने 'वंदे मातरम' और 'तलवार' जैसे क्रांतिकारी पत्र प्रकाशित किए, जिन्हें गुप्त रूप से भारत भेजा जाता था। मैडम कामा ने 1907 में स्टुटगार्ट में आयोजित अंतरराष्ट्रीय समाजवादी कांग्रेस में भारतीय स्वतंत्रता का प्रश्न उठाया और वहां तिरंगा फहराया। यह पहला अवसर था जब अंतरराष्ट्रीय मंच पर भारतीय ध्वज फहराया गया था। उन्होंने फ्रांस, जर्मनी, अमेरिका और अन्य देशों में भारतीय स्वतंत्रता के पक्ष में जनमत तैयार करने का प्रयास किया। पेरिस केंद्र ने भारतीय क्रांतिकारियों को हथियार और विस्फोटक सामग्री बनाने का प्रशिक्षण दिया और उन्हें भारत भेजा। हेमचंद्र कानूनगो, पन्नालाल बालकृष्ण और अन्य क्रांतिकारी पेरिस में प्रशिक्षण प्राप्त करके भारत लौटे और वहां क्रांतिकारी गतिविधियां संचालित कीं।

गदर पार्टी और अमेरिकी केंद्र

अमेरिका में क्रांतिकारी गतिविधियों का आरंभ 20वीं शताब्दी के प्रथम दशक में ही हो गया था। तारकनाथ दास, जी.डी. कुमार और अन्य क्रांतिकारियों ने अमेरिका में बसे भारतीय प्रवासियों, विशेषकर पंजाबियों, को संगठित करना शुरू किया था। 1913 में लाला हरदयाल, सोहन सिंह भकना और करतार सिंह सराभा के नेतृत्व में सैन फ्रांसिस्को में 'हिन्दुस्तान गदर पार्टी' (हिन्दी एसोसिएशन ऑफ द पैसिफिक कोस्ट) की औपचारिक स्थापना हुई। गदर पार्टी का उद्देश्य भारत में सशस्त्र क्रांति के माध्यम से ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकना था। इसके लिए पार्टी ने 'युगांतर आश्रम' नामक प्रशिक्षण केंद्र स्थापित किया, जहां क्रांतिकारियों को हथियार चलाने और विस्फोटक बनाने का प्रशिक्षण दिया जाता था। गदर पार्टी ने 'गदर' नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन शुरू किया, जिसे विभिन्न भारतीय भाषाओं में छापा जाता था। प्रथम विश्व युद्ध के आरंभ होने पर गदर पार्टी ने भारत में सशस्त्र विद्रोह का आह्वान किया। हजारों गदरी क्रांतिकारी

अमेरिका, कनाडा, हांगकांग, फिलीपींस और अन्य देशों से भारत लौटे। उनकी योजना पंजाब में फौजी छावनियों में विद्रोह करवाना थी। रासबिहारी बोस और विष्णु गणेश पिंगले भारत में इस विद्रोह को समन्वित करने वाले थे।

हालांकि, ब्रिटिश खुफिया विभाग ने किर्पाल सिंह नामक एक गद्दार के माध्यम से इस योजना का पता लगा लिया और विद्रोह शुरू होने से पहले ही कई क्रांतिकारियों को गिरफ्तार कर लिया। फिर भी, फरवरी 1915 में अमृतसर, लाहौर और रावलपिंडी की छावनियों में विद्रोह की कोशिश की गई, लेकिन वह सफल नहीं हुई। इसके परिणामस्वरूप, लाहौर षड्यंत्र केस और अन्य मुकदमों के तहत कई गदरी क्रांतिकारियों को फांसी दी गई या लंबी अवधि के कारावास की सजा दी गई।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद, गदर पार्टी ने अपनी रणनीति में बदलाव किया और सोवियत संघ में हुई बोल्शेविक क्रांति से प्रेरित होकर साम्यवादी विचारधारा को अपनाया। उसने भारत में साम्राज्यवाद और पूंजीवाद दोनों के खिलाफ संघर्ष का आह्वान किया। गदर पार्टी के सदस्यों ने सोवियत संघ और चीन में क्रांतिकारी प्रशिक्षण भी प्राप्त किया और भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

बर्लिन समिति और जर्मन केंद्र

प्रथम विश्व युद्ध के दौरान जर्मनी भारतीय क्रांतिकारियों के लिए एक महत्वपूर्ण केंद्र बन गया। ब्रिटेन के शत्रु होने के कारण जर्मनी भारतीय क्रांतिकारियों को समर्थन देने के लिए तैयार था। 1914 में विरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय और भूपेंद्रनाथ दत्त के नेतृत्व में बर्लिन में 'भारतीय स्वतंत्रता समिति' (इंडियन इंडिपेंडेंस कमेटी) की स्थापना हुई, जिसे 'बर्लिन समिति' के नाम से भी जाना जाता है। बर्लिन समिति ने जर्मन सरकार से वित्तीय सहायता प्राप्त की और भारत में क्रांति लाने की योजना बनाई। समिति ने 'हिंदुस्तान' नामक पत्रिका प्रकाशित की और रेडियो प्रसारण के माध्यम से भारतीयों तक अपनी बात पहुंचाने का प्रयास किया। समिति के सदस्यों ने जर्मनी, तुर्की और अन्य देशों में बंदी बनाए गए भारतीय सैनिकों के बीच प्रचार किया और उन्हें ब्रिटिश सेना के खिलाफ विद्रोह के लिए प्रेरित किया। बर्लिन समिति के प्रयासों से ही 'निदरलैंड-भारतीय समिति' का गठन हुआ, जिसने हॉलैंड से होकर भारत में हथियार और प्रचार सामग्री भेजने का कार्य किया। इसी प्रकार, राजा महेंद्र प्रताप और मौलवी बरकतुल्ला के नेतृत्व में काबुल में 'अस्थायी भारत सरकार' की स्थापना की गई, जिसे जर्मनी और तुर्की का समर्थन प्राप्त था। जर्मनी और तुर्की द्वारा प्रथम विश्व युद्ध में पराजित होने के बाद, भारतीय क्रांतिकारियों को जर्मनी से बाहर निकलना पड़ा। हालांकि, उन्होंने अपनी गतिविधियां जारी रखीं और बाद में सोवियत संघ और अन्य देशों में अपने केंद्र स्थापित किए।

आजाद हिंद फौज और जापानी केंद्र

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जापान भारतीय क्रांतिकारियों के लिए प्रमुख केंद्र बन गया। रासबिहारी



बोस, जो प्रथम विश्व युद्ध के दौरान भारत में गदर विद्रोह का नेतृत्व करने वाले थे, 1915 में जापान पहुंच गए थे। उन्होंने वहां 'इंडियन इंडिपेंडेंस लीग' की स्थापना की और जापानी सरकार और समाज में भारतीय स्वतंत्रता के प्रति समर्थन जुटाने का प्रयास किया। 1941 के बाद, सुभाष चंद्र बोस के नेतृत्व में जापान में भारतीय क्रांतिकारी गतिविधियां और अधिक सक्रिय हो गईं। बोस जर्मनी से पनडुब्बी द्वारा जापान पहुंचे और वहां पहले से मौजूद 'इंडियन इंडिपेंडेंस लीग' का नेतृत्व संभाला। उन्होंने 'आजाद हिंद फौज' का पुनर्गठन किया, जिसमें जापान द्वारा बंदी बनाए गए भारतीय सैनिक शामिल थे। अक्टूबर 1943 में सुभाष चंद्र बोस ने सिंगापुर में 'आजाद हिंद सरकार' की स्थापना की और खुद को उसका अध्यक्ष घोषित किया। आजाद हिंद सरकार ने जापान, जर्मनी, इटली, क्रोएशिया और थाईलैंड जैसे देशों से मान्यता प्राप्त की। सरकार ने अपना राष्ट्रीय ध्वज, मुद्रा और डाक टिकट जारी किए और अपने नागरिकों के लिए पासपोर्ट भी बनाए। आजाद हिंद फौज ने जापानी सेना की सहायता से अंडमान और निकोबार द्वीप समूह पर कब्जा कर लिया, जिन्हें 'शहीद' और 'स्वराज' नाम दिया गया। 1944 में आजाद हिंद फौज ने 'दिल्ली चलो' के नारे के साथ भारत की ओर कूच किया और म्यांमार (बर्मा) से होते हुए भारत के पूर्वोत्तर क्षेत्र में प्रवेश किया। आजाद हिंद फौज ने कोहिमा और आईम्फाल के युद्धों में भाग लिया, लेकिन जापानी सेना की हार के कारण उसे भी पीछे हटना पड़ा। आजाद हिंद फौज के तीन वरिष्ठ अधिकारियों - शाहनवाज खान, प्रेम कुमार सहगल और गुरबख्श सिंह ढिल्लों - पर दिल्ली के लाल किले में चलाए गए मुकदमे ने भारतीय जनता में व्यापक आक्रोश पैदा किया और भारतीय राष्ट्रीय सेना के अधिकारियों के प्रति सहानुभूति की लहर पैदा कर दी। इस प्रकार, आजाद हिंद फौज ने भले ही युद्ध में सफलता हासिल नहीं की, लेकिन उसने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को एक नई प्रेरणा और दिशा प्रदान की।

विदेशी क्रांतिकारियों की रणनीतियां और कार्यपद्धति

विदेशों में भारतीय क्रांतिकारियों ने अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए विभिन्न रणनीतियों और कार्यपद्धतियों का उपयोग किया। इनमें से प्रमुख थीं:

अंतरराष्ट्रीय समर्थन की खोज

विदेशी क्रांतिकारियों की एक प्रमुख रणनीति ब्रिटेन के शत्रु देशों से सहयोग प्राप्त करना था। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान उन्होंने जर्मनी और तुर्की से सहयोग लिया, जबकि द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जापान, जर्मनी और इटली से समर्थन प्राप्त किया। इन देशों से उन्हें वित्तीय सहायता, हथियार, प्रशिक्षण और राजनीतिक समर्थन मिला। इसके अलावा, भारतीय क्रांतिकारियों ने अंतरराष्ट्रीय समाजवादी आंदोलन और कम्युनिस्ट आंदोलन से भी सहयोग प्राप्त करने का प्रयास किया। विशेष रूप से, रूसी क्रांति के बाद सोवियत संघ भारतीय क्रांतिकारियों के लिए एक महत्वपूर्ण सहयोगी

बन गया। सोवियत संघ ने उन्हें प्रशिक्षण, वित्तीय सहायता और राजनीतिक समर्थन प्रदान किया।

प्रचार और जनमत निर्माण

विदेशी क्रांतिकारियों की एक अन्य महत्वपूर्ण रणनीति प्रचार और जनमत निर्माण थी। वे पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तकों, भाषणों और अन्य माध्यमों से भारत में ब्रिटिश शासन के अत्याचारों और शोषण को उजागर करते थे और विश्व समुदाय का ध्यान भारतीय स्वतंत्रता के मुद्दे की ओर आकर्षित करते थे। उदाहरण के लिए, मैडम कामा ने विभिन्न अंतरराष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग लेकर भारतीय स्वतंत्रता के पक्ष में वकालत की। इसी प्रकार, लाला लाजपत राय ने अमेरिका में प्रवास के दौरान भारतीय स्वतंत्रता के पक्ष में जनमत तैयार करने का प्रयास किया। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान सुभाष चंद्र बोस ने रेडियो प्रसारणों के माध्यम से भारतीयों को संबोधित किया और उन्हें ब्रिटिश शासन के खिलाफ विद्रोह के लिए प्रेरित किया।

सशस्त्र क्रांति की तैयारी

विदेशी क्रांतिकारियों का मुख्य लक्ष्य भारत में सशस्त्र क्रांति लाना था। इसके लिए उन्होंने विदेशों में प्रशिक्षण केंद्र स्थापित किए, जहां भारतीय क्रांतिकारियों को हथियार चलाने, बम बनाने और अन्य क्रांतिकारी कौशल सिखाए जाते थे। प्रशिक्षित क्रांतिकारियों को फिर भारत भेजा जाता था, जहां वे क्रांतिकारी संगठनों का निर्माण करते थे और सशस्त्र कार्रवाइयों को अंजाम देते थे। उदाहरण के लिए, गदर पार्टी ने 'युगांतर आश्रम' नामक प्रशिक्षण केंद्र स्थापित किया, जहां क्रांतिकारियों को हथियार चलाने और विस्फोटक बनाने का प्रशिक्षण दिया जाता था। प्रशिक्षित गदरी क्रांतिकारी फिर भारत लौटे और पंजाब में सैनिक विद्रोह कराने का प्रयास किया। इसी प्रकार, द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान सुभाष चंद्र बोस ने 'आजाद हिंद फौज' का गठन किया, जिसमें जापान द्वारा बंदी बनाए गए भारतीय सैनिक शामिल थे। आजाद हिंद फौज को जापानी सेना ने प्रशिक्षण दिया और वह जापानी सेना के साथ भारत की सीमा तक पहुंची।

राजनीतिक-कूटनीतिक प्रयास

विदेशी क्रांतिकारियों ने राजनीतिक और कूटनीतिक प्रयासों के माध्यम से भी भारतीय स्वतंत्रता के लिए कार्य किया। उन्होंने अंतरराष्ट्रीय सम्मेलनों और बैठकों में भाग लेकर भारतीय स्वतंत्रता के पक्ष में वकालत की और विभिन्न देशों की सरकारों से संपर्क स्थापित किया। उदाहरण के लिए, प्रथम विश्व युद्ध के दौरान राजा महेंद्र प्रताप और मौलवी बरकतुल्ला ने काबुल में 'अस्थायी भारत सरकार' की स्थापना की और अफगानिस्तान, जर्मनी और तुर्की से मान्यता प्राप्त की। इसी प्रकार, द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान सुभाष चंद्र बोस ने 'आजाद हिंद सरकार' की स्थापना की और जापान, जर्मनी, इटली, क्रोएशिया और थाईलैंड जैसे देशों से मान्यता प्राप्त की। इन राजनीतिक-कूटनीतिक प्रयासों का उद्देश्य भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को अंतरराष्ट्रीय मान्यता दिलाना और भारत में ब्रिटिश

शासन पर दबाव बनाना था।

वैचारिक-सैद्धांतिक प्रतिबद्धता

विदेशी क्रांतिकारियों ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को वैचारिक और सैद्धांतिक आधार प्रदान करने का भी प्रयास किया। उन्होंने राष्ट्रवाद, समाजवाद, साम्यवाद और अन्य प्रगतिशील विचारधाराओं का अध्ययन किया और उन्हें भारतीय संदर्भ में लागू करने का प्रयास किया। उदाहरण के लिए, श्यामजी कृष्ण वर्मा और वी.डी. सावरकर ने क्रांतिकारी राष्ट्रवाद के सिद्धांत विकसित किए, जिनका प्रभाव भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन पर गहरा पड़ा। इसी प्रकार, लाला हरदयाल और अन्य गदर नेताओं ने मार्क्सवादी विचारधारा का अध्ययन किया और उसे भारतीय संदर्भ में लागू करने का प्रयास किया। इस प्रकार, विदेशी क्रांतिकारियों ने विभिन्न रणनीतियों और कार्यपद्धतियों का उपयोग करके भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को आगे बढ़ाने का प्रयास किया।

इकाई 8: साम्प्रदायिकता का उदय तथा विकास

भारतीय उपमहाद्वीप की सामाजिक-राजनीतिक परिदृश्य में साम्प्रदायिकता एक जटिल और बहुआयामी घटना रही है। यह एक ऐसी विचारधारा है जिसने भारतीय इतिहास के विभिन्न कालखंडों में अपना प्रभाव डाला है और आज भी हमारे समाज और राजनीति के ताने-बाने में गहरे तक व्याप्त है। भारत जैसे बहुलवादी समाज में, जहाँ विविध धर्म, संस्कृतियाँ, भाषाएँ और परंपराएँ सदियों से सह-अस्तित्व में रही हैं, साम्प्रदायिकता की समस्या ने कई बार राष्ट्रीय एकता और अखंडता को चुनौती दी है। हमारे देश के इतिहास में साम्प्रदायिकता का उदय और विकास एक लंबी ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम है। यह केवल धार्मिक विभाजन तक ही सीमित नहीं है, बल्कि इसके सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक आयाम भी हैं। औपनिवेशिक शासन के दौरान ब्रिटिश 'फूट डालो और राज करो' की नीति ने साम्प्रदायिक विभाजन को और अधिक गहरा किया, जिसके परिणामस्वरूप अंततः भारत का विभाजन हुआ। स्वतंत्रता के बाद भी साम्प्रदायिकता की समस्या बनी रही और समय-समय पर दंगों, हिंसा और सामूहिक तनाव के रूप में सामने आती रही। इस अध्याय में हम साम्प्रदायिकता के अवधारणात्मक पहलुओं, इसके ऐतिहासिक विकास, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन पर इसके प्रभाव, विभाजन में इसकी भूमिका, स्वतंत्र भारत में इसके बदलते स्वरूप, और इससे निपटने के लिए अपनाए गए विभिन्न उपायों और रणनीतियों का विस्तृत अध्ययन करेंगे। हम यह भी विश्लेषण करेंगे कि कैसे साम्प्रदायिकता ने भारतीय लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता और बहुलवाद के सिद्धांतों को चुनौती दी है और इसके प्रभावों से निपटने के लिए क्या सामूहिक प्रयास किए जा सकते हैं। साम्प्रदायिकता का अध्ययन न केवल ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है, बल्कि वर्तमान सामाजिक-राजनीतिक परिदृश्य को समझने और भविष्य के लिए एक समावेशी, शांतिपूर्ण और सद्भावपूर्ण समाज के निर्माण की दिशा में कार्य करने के लिए भी आवश्यक है। इस अध्याय का उद्देश्य पाठकों को साम्प्रदायिकता के विभिन्न पहलुओं

की गहरी समझ प्रदान करना और इस जटिल विषय पर चिंतन और विमर्श को प्रोत्साहित करना है।

साम्प्रदायिकता: अवधारणा एवं परिभाषा

साम्प्रदायिकता एक ऐसी विचारधारा है जो समाज को धार्मिक आधार पर विभाजित करती है और अपने धार्मिक समुदाय के प्रति अंधभक्ति तथा अन्य धार्मिक समुदायों के प्रति शत्रुता या अविश्वास का भाव पैदा करती है। यह एक ऐसी मानसिकता है जिसमें व्यक्ति अपनी पहचान को मुख्य रूप से अपने धार्मिक समुदाय से जोड़कर देखता है और अन्य धार्मिक समुदायों को प्रतिद्वंद्वी या विरोधी मानता है। प्रख्यात इतिहासकार बिपिन चंद्र के अनुसार, "साम्प्रदायिकता एक ऐसी विचारधारा है जो समाज को धार्मिक समुदायों में विभाजित मानती है, जिनके राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक हित अलग-अलग और एक-दूसरे के विरोधी होते हैं।" इस प्रकार, साम्प्रदायिकता केवल धार्मिक विश्वासों के अंतर की बात नहीं है, बल्कि यह एक राजनीतिक और सामाजिक विचारधारा है जो धर्म को राजनीतिक और सामाजिक उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल करती है।

साम्प्रदायिकता की कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:

1. धार्मिक पहचान का अतिरेक: साम्प्रदायिकता व्यक्ति की धार्मिक पहचान को उसकी अन्य सभी पहचानों (जैसे राष्ट्रीयता, वर्ग, लिंग, पेशा, भाषा आदि) से ऊपर रखती है।
2. समुदाय के हितों का अतिवाद: साम्प्रदायिक विचारधारा अपने धार्मिक समुदाय के हितों को सर्वोपरि मानती है, यहाँ तक कि राष्ट्रीय हितों से भी ऊपर।
3. अन्य समुदायों के प्रति शत्रुता: साम्प्रदायिकता अन्य धार्मिक समुदायों को प्रतिद्वंद्वी या शत्रु के रूप में देखती है और उनके प्रति असहिष्णुता, भय या घृणा का भाव पैदा करती है।
4. इतिहास का एकपक्षीय दृष्टिकोण: साम्प्रदायिक इतिहास लेखन अतीत की घटनाओं को धार्मिक दृष्टिकोण से देखता है और अपने समुदाय के पक्ष में तथा दूसरे समुदायों के विरुद्ध एकपक्षीय व्याख्या प्रस्तुत करता है।
5. राजनीतिक लामबंदी का आधार: साम्प्रदायिकता धार्मिक पहचान के आधार पर राजनीतिक समर्थन जुटाने और सत्ता प्राप्त करने का एक साधन बन जाती है।
6. सामाजिक विभाजन और अलगाव: साम्प्रदायिकता समाज में धार्मिक आधार पर विभाजन और अलगाव को बढ़ावा देती है, जिससे विभिन्न समुदायों के बीच संवाद और सहयोग कम होता जाता है।

भारतीय संदर्भ में, साम्प्रदायिकता को तीन प्रमुख श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है:

1. मामूली या सौम्य साम्प्रदायिकता (Mild Communalism): इसमें व्यक्ति अपने धार्मिक समुदाय के प्रति विशेष लगाव रखता है, लेकिन अन्य समुदायों के प्रति खुली शत्रुता नहीं

दिखाता। वह अपने समुदाय की संस्कृति, परंपराओं और इतिहास में अधिक रुचि लेता है।

2. मध्यम साम्प्रदायिकता (Moderate Communalism): इसमें व्यक्ति न केवल अपने धार्मिक समुदाय के प्रति प्रतिबद्ध होता है, बल्कि अन्य समुदायों के प्रति अविश्वास या भय का भाव भी रखता है। वह अपने समुदाय के हितों की रक्षा के लिए राजनीतिक रूप से सक्रिय हो सकता है।
3. उग्र साम्प्रदायिकता (Extreme Communalism): इसमें व्यक्ति अपने धार्मिक समुदाय के प्रति अंधभक्ति और अन्य समुदायों के प्रति खुली शत्रुता और घृणा का प्रदर्शन करता है। वह अपने विचारों को थोपने और अन्य समुदायों को दबाने के लिए हिंसा का समर्थन या प्रयोग भी कर सकता है।

साम्प्रदायिकता का विकास अक्सर राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों के जटिल संयोजन का परिणाम होता है। ऐतिहासिक अन्याय की भावना, सांस्कृतिक और धार्मिक पहचान को खतरा, आर्थिक प्रतिस्पर्धा, राजनीतिक हाशियाकरण, और सामाजिक अलगाव जैसे कारक साम्प्रदायिक भावनाओं को बढ़ावा दे सकते हैं। भारत जैसे बहुलवादी समाज में, जहाँ विभिन्न धर्मों, संप्रदायों और संस्कृतियों का सह-अस्तित्व है, साम्प्रदायिकता की चुनौती विशेष रूप से गंभीर है। भारतीय संविधान धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांत पर आधारित है, जो सभी धर्मों के प्रति समान सम्मान और राज्य की धार्मिक तटस्थता की बात करता है। हालांकि, व्यवहार में, साम्प्रदायिक राजनीति और विचारधारा ने कई बार भारतीय लोकतंत्र और धर्मनिरपेक्षता के मूल्यों को चुनौती दी है।

अगले खंडों में, हम भारत में साम्प्रदायिकता के ऐतिहासिक विकास, इसके विभिन्न पहलुओं और इसके प्रभावों पर विस्तार से चर्चा करेंगे, जिससे इस जटिल घटना की बेहतर समझ विकसित की जा सके।

भारत में साम्प्रदायिकता का ऐतिहासिक विकास

भारत में साम्प्रदायिकता का विकास एक लंबी और जटिल ऐतिहासिक प्रक्रिया रही है। यह केवल आधुनिक काल की उपज नहीं है, बल्कि इसके बीज प्राचीन और मध्यकालीन इतिहास में भी देखे जा सकते हैं। हालांकि, आधुनिक अर्थों में साम्प्रदायिकता का उदय और विकास मुख्य रूप से ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के दौरान हुआ।

प्राचीन और मध्यकालीन भारत में धार्मिक संबंध

प्राचीन भारत में विभिन्न धर्मों और संप्रदायों के बीच संबंध अपेक्षाकृत सौहार्दपूर्ण थे। हिंदू, बौद्ध, जैन और अन्य धार्मिक परंपराएँ एक-दूसरे के साथ वैचारिक संवाद और आदान-प्रदान में संलग्न थीं। धार्मिक विविधता को स्वीकार किया जाता था और विभिन्न धार्मिक समूहों के बीच सहअस्तित्व की संस्कृति थी। मध्यकालीन भारत में इस्लाम के आगमन और मुस्लिम शासकों के शासन की स्थापना के साथ, धार्मिक परिदृश्य में बदलाव आया। कुछ मुस्लिम शासकों ने धार्मिक असहिष्णुता दिखाई, जैसे कि मंदिरों का विध्वंस और गैर-मुस्लिमों पर जजिया कर लगाना। हालांकि, अन्य

शासकों ने उदार और समावेशी नीतियां अपनाईं। उदाहरण के लिए, अकबर ने सुलह-ए-कुल (सार्वभौमिक सद्भाव) की नीति अपनाई और विभिन्न धर्मों के विद्वानों के साथ धार्मिक चर्चाओं को प्रोत्साहित किया। मध्यकालीन काल में भी भक्ति और सूफी आंदोलनों ने धार्मिक सीमाओं को पार करते हुए लोगों को एकजुट किया। कबीर, नानक, चैतन्य महाप्रभु, मीराबाई जैसे संतों ने धार्मिक कट्टरता का विरोध किया और सार्वभौमिक भाईचारे का संदेश दिया। सूफी संतों ने भी समाज के विभिन्न वर्गों और धर्मों के लोगों के बीच सेतु का काम किया। हालांकि, यह कहना अतिशयोक्ति होगी कि प्राचीन और मध्यकालीन भारत में कोई धार्मिक तनाव या संघर्ष नहीं था। समय-समय पर धार्मिक अंतर्विरोध और संघर्ष की घटनाएँ होती रहीं, लेकिन ये आधुनिक अर्थों में साम्प्रदायिकता के समान नहीं थीं। वे मुख्य रूप से राजनीतिक सत्ता के संघर्ष थे, जिनमें धर्म एक कारक के रूप में शामिल था, लेकिन एकमात्र या प्रमुख कारक नहीं था।

औपनिवेशिक काल में साम्प्रदायिकता का उदय

आधुनिक अर्थों में साम्प्रदायिकता का उदय और विकास मुख्य रूप से ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के दौरान हुआ। ब्रिटिश शासकों ने भारतीय समाज को विभाजित करने और उस पर शासन करने की 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपनाई। उन्होंने भारतीय समाज की विविधता का लाभ उठाया और विभिन्न समुदायों के बीच मतभेदों को बढ़ावा दिया।

ब्रिटिश शासन के दौरान साम्प्रदायिकता के विकास के कुछ प्रमुख कारक निम्नलिखित थे:

1. जनगणना और वर्गीकरण: ब्रिटिश सरकार द्वारा शुरू की गई जनगणना ने भारतीय समाज को धार्मिक आधार पर वर्गीकृत किया और लोगों को अपनी धार्मिक पहचान के प्रति अधिक सचेत बनाया।
2. पृथक निर्वाचक मंडल: 1909 के मिंटो-मोर्ले सुधारों ने मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचक मंडल की व्यवस्था की, जिसने धार्मिक आधार पर राजनीतिक विभाजन को संस्थागत रूप दिया।
3. साम्प्रदायिक इतिहास लेखन: ब्रिटिश इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास को हिंदू काल और मुस्लिम काल जैसे धार्मिक खंडों में विभाजित करके प्रस्तुत किया, जिससे दो समुदायों के बीच विभाजन और अविश्वास की भावना को बढ़ावा मिला।
4. आर्थिक प्रतिस्पर्धा: औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में सीमित अवसरों के लिए विभिन्न समुदायों के बीच प्रतिस्पर्धा बढ़ी, जिसने साम्प्रदायिक तनाव को और बढ़ा दिया।
5. धार्मिक पुनरुत्थानवादी आंदोलन: 19वीं शताब्दी में विभिन्न धार्मिक समुदायों में पुनरुत्थानवादी आंदोलन शुरू हुए, जैसे कि आर्य समाज, अलीगढ़ आंदोलन, आदि। इन आंदोलनों ने अपने-अपने धार्मिक समुदाय की पहचान और हितों पर जोर दिया, जिससे



साम्प्रदायिक चेतना का विकास हुआ।

इस प्रकार, औपनिवेशिक काल में विभिन्न राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक कारकों के संयोजन ने साम्प्रदायिकता के विकास को बढ़ावा दिया। यह प्रक्रिया धीरे-धीरे विकसित हुई और 20वीं शताब्दी के प्रारंभ तक साम्प्रदायिकता भारतीय राजनीति और समाज का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बन गई थी।

स्वतंत्रता आंदोलन और साम्प्रदायिकता

भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास साम्प्रदायिक एकता और विभाजन के बीच एक जटिल संघर्ष का इतिहास रहा है। एक ओर, राष्ट्रवादी नेताओं और संगठनों ने विभिन्न धर्मों और समुदायों के लोगों को एकजुट करने का प्रयास किया, दूसरी ओर, साम्प्रदायिक शक्तियों ने धार्मिक पहचान के आधार पर राजनीतिक लामबंदी की। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, जो स्वतंत्रता आंदोलन का प्रमुख संगठन था, ने धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद का समर्थन किया और सभी धर्मों के लोगों को एकजुट करने का प्रयास किया। गांधीजी ने हिंदू-मुस्लिम एकता पर विशेष जोर दिया और साम्प्रदायिक सद्भाव के लिए अथक प्रयास किए। हालांकि, 1920 के दशक से, मुस्लिम लीग जैसे संगठनों ने मुसलमानों के अलग राजनीतिक हितों पर जोर देना शुरू किया। 1930 के दशक में, हिंदू महासभा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आरएसएस) जैसे संगठनों ने हिंदू राष्ट्रवाद की वकालत की। इन साम्प्रदायिक संगठनों ने अपने-अपने धार्मिक समुदायों के लिए अलग राजनीतिक मांगें उठाईं, जिससे साम्प्रदायिक विभाजन और गहरा हुआ। 1940 में, मुस्लिम लीग ने लाहौर प्रस्ताव (पाकिस्तान प्रस्ताव) पारित किया, जिसमें भारतीय उपमहाद्वीप में मुसलमानों के लिए एक अलग राज्य की मांग की गई। इस प्रस्ताव ने द्विराष्ट्र सिद्धांत को आगे बढ़ाया, जिसके अनुसार हिंदू और मुस्लिम दो अलग राष्ट्र हैं जिन्हें अलग-अलग राज्यों में रहना चाहिए। स्वतंत्रता आंदोलन के अंतिम वर्षों में, साम्प्रदायिक तनाव चरम पर पहुंच गया। 1946 में, कलकत्ता में "डायरेक्ट एक्शन डे" पर हुए दंगों ने एक श्रृंखला साम्प्रदायिक हिंसा की शुरुआत की, जो पूरे उत्तर भारत में फैल गई। इस हिंसा ने देश के विभाजन की अनिवार्यता को बढ़ा दिया। अंततः, साम्प्रदायिक ताकतों के दबाव के कारण, 1947 में भारत का विभाजन हुआ और पाकिस्तान एक अलग राज्य के रूप में अस्तित्व में आया। विभाजन के साथ भयंकर हिंसा हुई, जिसमें लाखों लोगों की जान गई और करोड़ों लोग विस्थापित हुए। भारत के विभाजन ने साम्प्रदायिकता के विनाशकारी परिणामों को उजागर किया। यह दिखाता है कि कैसे धार्मिक पहचान के आधार पर राजनीतिक विभाजन अंततः हिंसा और विनाश की ओर ले जा सकता है। विभाजन के बाद भी, साम्प्रदायिकता की समस्या भारत में बरकरार रही और कई रूपों में सामने आती रही है। साम्प्रदायिकता के ऐतिहासिक विकास का अध्ययन हमें इस जटिल घटना की बेहतर समझ प्रदान करता है।

इकाई 9: लखनऊ समझौता एवं मूल्यांकन, होमरूल लीग आन्दोलन

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में लखनऊ समझौता और होमरूल लीग आन्दोलन दो ऐसे महत्वपूर्ण पड़ाव हैं जिन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन की दिशा और गति को नया आयाम प्रदान किया। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान, जब ब्रिटिश साम्राज्य अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहा था, भारत में राजनीतिक परिदृश्य तेजी से बदल रहा था। एक ओर, कांग्रेस और मुस्लिम लीग जैसे राजनीतिक संगठन अपने मतभेदों को दूर करके एकजुट होने का प्रयास कर रहे थे, वहीं दूसरी ओर, एनी बेसेंट और बाल गंगाधर तिलक जैसे नेता स्वशासन की मांग के साथ होमरूल लीग आन्दोलन के माध्यम से जनता को जागृत कर रहे थे। यह काल खंड भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में एक निर्णायक मोड़ साबित हुआ, जिसने न केवल हिंदू-मुस्लिम एकता को बढ़ावा दिया बल्कि भारतीयों में राजनीतिक चेतना के विकास में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

लखनऊ समझौते की पृष्ठभूमि

19वीं शताब्दी के अंत और 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में भारतीय राजनीति में कई महत्वपूर्ण घटनाएँ घटीं जिन्होंने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की दिशा को प्रभावित किया। 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना एक महत्वपूर्ण मील का पत्थर थी, जिसने भारतीयों को एक राजनीतिक मंच प्रदान किया। प्रारंभ में कांग्रेस एक मध्यमार्गी संगठन था, जो याचिका और प्रार्थना के माध्यम से ब्रिटिश सरकार से सुधारों की मांग करता था। हालाँकि, 1905 में बंगाल विभाजन की घटना ने भारतीय राजनीति में एक नया मोड़ ला दिया। इस घटना ने न केवल बंगाल के लोगों को आंदोलित किया, बल्कि पूरे देश में राष्ट्रवादी भावनाओं को भी जगाया। बंगाल विभाजन के विरोध में स्वदेशी और बहिष्कार आंदोलन शुरू हुए, जिसने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को एक नई दिशा प्रदान की। इसी समय, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के भीतर विचारधारात्मक मतभेद उभरने लगे थे। एक ओर, नरमपंथी नेता जैसे गोपाल कृष्ण गोखले और फिरोजशाह मेहता थे, जो संवैधानिक तरीकों से ब्रिटिश सरकार से सुधारों की मांग करना चाहते थे। दूसरी ओर, बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय और बिपिन चंद्र पाल जैसे गरमपंथी नेता थे, जो आत्मनिर्भरता और स्वराज की अधिक मुखर मांग कर रहे थे। 1907 के सूरत अधिवेशन में ये मतभेद इतने गहरे हो गए कि कांग्रेस विभाजित हो गई। इस विभाजन ने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को कमजोर किया और अंग्रेजों को भारतीयों के बीच फूट डालने का अवसर प्रदान किया। इस बीच, मुस्लिम समुदाय में भी राजनीतिक चेतना का विकास हो रहा था। 1906 में अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की स्थापना हुई, जिसका मुख्य उद्देश्य मुसलमानों के हितों की रक्षा करना था। प्रारंभ में, मुस्लिम लीग ब्रिटिश सरकार के प्रति वफादारी का प्रदर्शन करती थी और कांग्रेस से दूरी बनाए रखती थी। मुस्लिम लीग के नेता मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचन क्षेत्र और अन्य विशेषाधिकारों की मांग करते थे, जिसे कांग्रेस स्वीकार नहीं करती थी। इस प्रकार, भारतीय राजनीति में हिंदू-मुस्लिम मतभेद बढ़ते जा रहे थे।

1909 में मोर्ले-मिंटो सुधारों के माध्यम से ब्रिटिश सरकार ने मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचन क्षेत्रों की व्यवस्था की, जिससे हिंदू-मुस्लिम विभाजन और गहरा हो गया। इन सुधारों के बाद, मुस्लिम लीग और कांग्रेस के बीच मतभेद और बढ़ गए, क्योंकि कांग्रेस इन सुधारों को सांप्रदायिक और विभाजनकारी मानती थी। इस प्रकार, 20वीं शताब्दी के प्रथम दशक के अंत तक, भारतीय राजनीति में विभाजन और मतभेद की स्थिति थी, जो भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के लिए हानिकारक थी। परन्तु प्रथम विश्व युद्ध के प्रारंभ होने के साथ परिस्थितियाँ बदलने लगीं। युद्ध के दौरान ब्रिटिश सरकार को भारतीयों के समर्थन की आवश्यकता थी, इसलिए उसने भारतीयों के प्रति अपनी नीतियों में कुछ नरमी दिखाई। इसी समय, भारतीय नेताओं ने भी महसूस किया कि उनके आपसी मतभेद भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को कमजोर कर रहे हैं और अंग्रेजों को लाभ पहुंचा रहे हैं। इसलिए, 1915-16 में भारतीय नेताओं ने अपने मतभेदों को दूर करने और एकजुट होकर अंग्रेजों से मुकाबला करने का निर्णय लिया। इस दिशा में पहला महत्वपूर्ण कदम 1915 में उठाया गया, जब कांग्रेस के नरमपंथी और गरमपंथी गुटों के बीच समझौता हुआ। गोपाल कृष्ण गोखले की मृत्यु के बाद, कांग्रेस में समझौते की प्रक्रिया तेज हो गई और अंततः 1916 के लखनऊ अधिवेशन में दोनों गुट फिर से एक हो गए। इस एकीकरण से कांग्रेस मजबूत हुई और अब वह ब्रिटिश सरकार के समक्ष अपनी मांगें अधिक प्रभावी ढंग से रख सकती थी। इसके साथ ही, मुस्लिम लीग के भीतर भी परिवर्तन हो रहे थे। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान तुर्की साम्राज्य के पतन के कारण मुसलमानों में ब्रिटिश सरकार के प्रति असंतोष बढ़ रहा था। खिलाफत आंदोलन के रूप में यह असंतोष अभिव्यक्त हुआ, जिसने मुस्लिम लीग को कांग्रेस के करीब लाने में मदद की। इसके अलावा, मुस्लिम लीग के नए नेताओं, विशेष रूप से मोहम्मद अली जिन्ना, ने कांग्रेस के साथ सहयोग करने की आवश्यकता पर बल दिया। जिन्ना, जो उस समय कांग्रेस के भी सदस्य थे, हिंदू-मुस्लिम एकता के प्रबल समर्थक थे और उन्होंने दोनों संगठनों के बीच समझौते के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन परिस्थितियों में, दिसंबर 1916 में लखनऊ में दो महत्वपूर्ण घटनाएँ घटीं - पहली, कांग्रेस के नरमपंथी और गरमपंथी गुटों का पुनर्मिलन, और दूसरी, कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच एक ऐतिहासिक समझौता, जिसे लखनऊ समझौता कहा जाता है। यह समझौता भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में एक महत्वपूर्ण मोड़ था, जिसने हिंदू-मुस्लिम एकता को बढ़ावा दिया और ब्रिटिश सरकार के समक्ष भारतीयों की स्थिति को मजबूत किया।

लखनऊ समझौता - प्रमुख प्रावधान

लखनऊ समझौता भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के बीच 1916 में हस्ताक्षरित एक ऐतिहासिक समझौता था। इस समझौते के दो मुख्य पहलू थे - पहला, दोनों संगठनों ने भारत के लिए स्वशासन की मांग पर सहमति व्यक्त की, और दूसरा, उन्होंने मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचन क्षेत्रों और प्रांतीय विधान सभाओं में मुसलमानों के लिए आरक्षित सीटों के विषय पर समझौता किया। इस समझौते से पहले, कांग्रेस मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचन क्षेत्रों

का विरोध करती थी, लेकिन अब उसने इसे स्वीकार कर लिया, जबकि मुस्लिम लीग ने स्वशासन की कांग्रेस की मांग का समर्थन किया। लखनऊ समझौते के प्रमुख प्रावधानों में शामिल थे - सबसे पहले, केंद्रीय विधान परिषद में मुसलमानों के लिए एक-तिहाई सीटें आरक्षित की गईं। दूसरे, प्रांतीय विधान परिषदों में मुसलमानों के लिए प्रांत की जनसंख्या के अनुपात से अधिक सीटें आरक्षित की गईं। उदाहरण के लिए, पंजाब में मुसलमानों की जनसंख्या का अनुपात 54.8% था, लेकिन उन्हें 50% सीटें आरक्षित की गईं, जबकि बंगाल में मुसलमानों की जनसंख्या 52.6% थी, लेकिन उन्हें 40% सीटें दी गईं। इसके अलावा, सिंध को बॉम्बे प्रेसीडेंसी से अलग करके एक अलग प्रांत बनाने और उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत और बलूचिस्तान में सुधार लागू करने का प्रस्ताव भी रखा गया। साथ ही, विधान परिषदों में सदस्यों के निर्वाचन के लिए पृथक निर्वाचन क्षेत्रों की व्यवस्था की गई। इसका अर्थ था कि मुसलमान अपने प्रतिनिधियों का चुनाव स्वयं करेंगे और हिंदू अपने प्रतिनिधियों का। इस प्रकार, दोनों समुदायों के बीच चुनावी प्रतिस्पर्धा नहीं होगी, जिससे सांप्रदायिक तनाव को कम किया जा सकेगा। यह व्यवस्था मुस्लिम लीग की लंबे समय से चली आ रही मांग थी, जिसे कांग्रेस ने अब स्वीकार कर लिया था।

इसके अतिरिक्त, समझौते में यह भी प्रावधान था कि किसी भी समुदाय से संबंधित विषयों पर विधायी कार्रवाई तभी की जाएगी जब उस समुदाय के चार-पांचवें सदस्य उसके पक्ष में हों। यह प्रावधान अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के लिए महत्वपूर्ण था, क्योंकि इससे यह सुनिश्चित होता था कि बहुसंख्यक समुदाय अल्पसंख्यकों के हितों के विरुद्ध कोई कानून न बना सके। समझौते में यह भी सहमति व्यक्त की गई कि वायसराय की कार्यकारी परिषद में कम से कम एक-तिहाई सदस्य भारतीय होने चाहिए। इस प्रावधान का उद्देश्य भारतीयों की भागीदारी को बढ़ाना और ब्रिटिश प्रशासन में भारतीय प्रतिनिधित्व को सुनिश्चित करना था। इससे भारतीयों को शासन प्रणाली में अधिक अनुभव प्राप्त होगा और वे भविष्य में स्वशासन के लिए तैयार हो सकेंगे। लखनऊ समझौते का सबसे महत्वपूर्ण पहलू यह था कि इसने भारत के लिए स्वशासन की मांग को एक सामान्य मंच पर लाया। दोनों संगठनों ने इस बात पर सहमति व्यक्त की कि भारत को औपनिवेशिक स्वशासन प्राप्त होना चाहिए, जैसा कि कनाडा, ऑस्ट्रेलिया जैसे ब्रिटिश उपनिवेशों को प्राप्त था। यह मांग भारतीयों के राजनीतिक अधिकारों के विस्तार की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम थी और इसने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को एक नई दिशा प्रदान की। लखनऊ समझौते ने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को एक नई ऊर्जा और गति प्रदान की। इस समझौते के बाद, कांग्रेस और मुस्लिम लीग संयुक्त रूप से ब्रिटिश सरकार से स्वशासन की मांग करने लगे, जिससे भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन मजबूत हुआ। यह समझौता हिंदू-मुस्लिम एकता का एक महत्वपूर्ण प्रतीक बन गया और इसने ब्रिटिश सरकार को यह संदेश दिया कि भारतीय अपने मतभेदों को भुलाकर एकजुट हो सकते हैं। हालांकि, इस समझौते में कुछ कमियां भी थीं। सबसे पहले, यह समझौता मुख्य रूप से उच्च वर्ग के हिंदुओं और मुसलमानों के बीच हुआ था, जिसमें आम जनता की भागीदारी नहीं थी। दूसरे,



इसने पृथक निर्वाचन क्षेत्रों की व्यवस्था को स्थायी बना दिया, जिससे भविष्य में सांप्रदायिक विभाजन गहरा हो सकता था। तीसरे, इसने मुसलमानों को अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व दिया, जिससे अन्य समुदायों, विशेष रूप से हिंदुओं के बीच, असंतोष पैदा हो सकता था। फिर भी, अपनी सीमाओं के बावजूद, लखनऊ समझौता भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में एक महत्वपूर्ण मील का पत्थर साबित हुआ। इसने न केवल कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच सहयोग की नींव रखी, बल्कि स्वशासन की मांग को भी मजबूती प्रदान की, जो आगे चलकर स्वतंत्रता की मांग में बदल गई। इस प्रकार, लखनऊ समझौता भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के विकास में एक महत्वपूर्ण मोड़ साबित हुआ।

लखनऊ समझौते का महत्व और प्रभाव

लखनऊ समझौता भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में एक अत्यंत महत्वपूर्ण घटना थी जिसने भारतीय राजनीति पर दूरगामी प्रभाव डाला। इस समझौते का सबसे महत्वपूर्ण योगदान यह था कि इसने हिंदू-मुस्लिम एकता को बढ़ावा दिया और दोनों समुदायों के बीच सहयोग की भावना को मजबूत किया। पहली बार, भारत के दो प्रमुख राजनीतिक संगठन - भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और अखिल भारतीय मुस्लिम लीग - एक साझा मंच पर आए और भारत के लिए स्वशासन की मांग पर सहमति व्यक्त की। यह एकता ब्रिटिश साम्राज्य के लिए एक चेतावनी थी कि भारतीय अपने मतभेदों को भुलाकर एकजुट हो सकते हैं और अपने राजनीतिक अधिकारों के लिए संघर्ष कर सकते हैं। लखनऊ समझौते का दूसरा महत्वपूर्ण प्रभाव यह था कि इसने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को एक नई दिशा और गति प्रदान की। इस समझौते से पहले, कांग्रेस और मुस्लिम लीग अलग-अलग मार्गों पर चल रहे थे और उनके बीच मतभेद बढ़ रहे थे। लेकिन समझौते के बाद, दोनों संगठन एक साथ काम करने लगे, जिससे भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन मजबूत हुआ। इस एकता का प्रभाव यह हुआ कि ब्रिटिश सरकार भारतीयों की मांगों को नजरअंदाज नहीं कर सकी और उसे कुछ रियायतें देनी पड़ीं। समझौते का तीसरा महत्वपूर्ण प्रभाव यह था कि इसने कांग्रेस के नरमपंथी और गरमपंथी गुटों के बीच एकता स्थापित की। 1907 के सूरत अधिवेशन में कांग्रेस विभाजित हो गई थी, जिससे भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन कमजोर हो गया था। लेकिन लखनऊ समझौते के समय, दोनों गुट फिर से एक हो गए, जिससे कांग्रेस मजबूत हुई और वह ब्रिटिश सरकार के समक्ष अपनी मांगों अधिक प्रभावी ढंग से रख सकी।

लखनऊ समझौते का चौथा महत्वपूर्ण प्रभाव यह था कि इसने स्वशासन की मांग को मजबूती प्रदान की। दोनों संगठनों ने इस बात पर सहमति व्यक्त की कि भारत को औपनिवेशिक स्वशासन प्राप्त होना चाहिए, जैसा कि कनाडा, ऑस्ट्रेलिया जैसे ब्रिटिश उपनिवेशों को प्राप्त था। यह मांग भारतीयों के राजनीतिक अधिकारों के विस्तार की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम थी और इसने

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को एक नई दिशा प्रदान की। समझौते का पांचवां महत्वपूर्ण प्रभाव यह था कि इसने मुस्लिम लीग की राजनीतिक स्थिति को मजबूत किया। इस समझौते के पहले, मुस्लिम लीग एक छोटा और कमजोर संगठन था, जिसका प्रभाव सीमित था। लेकिन कांग्रेस के साथ समझौते के बाद, मुस्लिम लीग की प्रतिष्ठा बढ़ी और वह एक प्रमुख राजनीतिक शक्ति के रूप में उभरी। इससे मुसलमानों में राजनीतिक चेतना का विकास हुआ और वे अपने अधिकारों के लिए अधिक सक्रिय हो गए। समझौते का छठा महत्वपूर्ण प्रभाव यह था कि इसने ब्रिटिश सरकार पर भारतीयों को अधिक राजनीतिक अधिकार देने का दबाव बनाया। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान, ब्रिटिश सरकार भारतीयों के समर्थन की आवश्यकता महसूस कर रही थी और इसलिए वह भारतीयों की मांगों को नजरअंदाज नहीं कर सकती थी। लखनऊ समझौते के बाद, भारतीयों की एकजुट आवाज ने ब्रिटिश सरकार पर दबाव बनाया, जिसके परिणामस्वरूप 1917 में मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों की घोषणा हुई, जिसने भारतीयों को कुछ सीमित राजनीतिक अधिकार प्रदान किए। इसके अलावा, लखनऊ समझौते ने मोहम्मद अली जिन्ना जैसे नेताओं को राष्ट्रीय स्तर पर प्रमुखता दी, जिन्होंने समझौते में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। जिन्ना, जो उस समय कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों के सदस्य थे, हिंदू-मुस्लिम एकता के प्रबल समर्थक थे।

बहुविकल्पीय प्रश्न (MCQs)

1. **भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना किस वर्ष हुई?**
 - a) 1857
 - b) 1875
 - c) 1885
 - d) 1905
2. **भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के पहले अधिवेशन के अध्यक्ष कौन थे?**
 - a) दादाभाई नौरोजी
 - b) सुरेन्द्रनाथ बनर्जी
 - c) डब्ल्यू.सी. बनर्जी
 - d) ए.ओ. ह्यूम
3. **निम्नलिखित में से कौन नरमपंथी नेता थे?**
 - a) बाल गंगाधर तिलक
 - b) लाला लाजपत राय



- c) गोपाल कृष्ण गोखले
d) अरविंदो घोष
4. बंगाल का विभाजन किस वर्ष हुआ?
- a) 1900
b) 1903
c) 1905
d) 1911
5. बंगाल विभाजन के समय भारत के वायसराय कौन थे?
- a) लॉर्ड कर्जन
b) लॉर्ड मिंटो
c) लॉर्ड चेम्सफोर्ड
d) लॉर्ड रिपन
6. भारत में क्रांतिकारी आंदोलन के प्रारंभ का प्रतीक कौन सी घटना मानी जाती है?
- a) चापेकर बंधुओं द्वारा रैंड की हत्या
b) खुदीराम बोस द्वारा किंग्सफोर्ड पर बम फेंकना
c) मदनलाल धींगरा द्वारा कर्जन वायली की हत्या
d) भगत सिंह द्वारा सेंट्रल असेंबली में बम फेंकना
7. गदर पार्टी की स्थापना किसने और कहाँ की थी?
- a) विनायक दामोदर सावरकर, लंदन
b) लाला हरदयाल, सैन फ्रांसिस्को
c) श्यामजी कृष्ण वर्मा, पेरिस
d) मदन लाल धींगरा, बर्लिन
8. होमरूल लीग आंदोलन की शुरुआत किसने की थी?
- a) महात्मा गांधी और मोतीलाल नेहरू
b) एनी बेसेंट और बाल गंगाधर तिलक
c) भगत सिंह और सुभाष चंद्र बोस
d) मोहम्मद अली जिन्ना और एम.ए. जिन्ना

9. लखनऊ समझौता किस वर्ष हुआ?

- a) 1905
- b) 1910
- c) 1916
- d) 1919

10. मुस्लिम लीग की स्थापना कब हुई?

- a) 1885
- b) 1905
- c) 1906
- d) 1916

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय राष्ट्रवाद के उदय के प्रमुख कारणों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
2. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में किन उद्देश्यों की घोषणा की गई थी?
3. नरमपंथियों और गरमपंथियों के बीच मुख्य मतभेद क्या थे?
4. बंगाल विभाजन के क्या कारण थे और इसने भारतीय राष्ट्रवाद को किस प्रकार प्रभावित किया?
5. स्वदेशी आंदोलन क्या था? इसके प्रमुख परिणामों का उल्लेख कीजिए।
6. भारत के प्रमुख क्रांतिकारी संगठनों के नाम और उनके योगदान का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
7. विदेशों में स्थापित क्रांतिकारी संगठनों की गतिविधियों का संक्षिप्त विवरण दीजिए।
8. साम्प्रदायिकता के उदय के प्रमुख कारणों की व्याख्या कीजिए।
9. लखनऊ समझौते की प्रमुख विशेषताएँ क्या थीं? इसके महत्व पर प्रकाश डालिए।
10. होमरूल लीग आंदोलन के उद्देश्य और प्रभाव का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय राष्ट्रवाद के उदय के कारणों का विस्तृत विश्लेषण कीजिए। राष्ट्रवाद के विकास में ब्रिटिश शासन की भूमिका पर प्रकाश डालिए।
2. "भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना ब्रिटिश सरकार के हितों की रक्षा के लिए की गई थी।" इस कथन का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
3. नरमपंथी राष्ट्रवाद की विचारधारा, कार्यपद्धति और योगदान का विस्तृत मूल्यांकन कीजिए। क्या नरमपंथियों की नीतियाँ असफल रही? तर्क सहित उत्तर दीजिए।
4. उग्रवादी आंदोलन के उदय के कारणों का विश्लेषण कीजिए। लाला लाजपत राय, बाल



गंगाधर तिलक और बिपिन चंद्र पाल के विचारों और योगदान पर प्रकाश डालिए।

5. बंगाल विभाजन के कारणों, प्रभावों और परिणामों का विस्तृत विवेचन कीजिए। स्वदेशी आंदोलन की रणनीतियों और उपलब्धियों का मूल्यांकन कीजिए।
6. भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन के विकास का विस्तृत विवरण प्रस्तुत कीजिए। क्रांतिकारी आंदोलन की सीमाओं और योगदान का मूल्यांकन कीजिए।
7. विदेशों में भारतीय क्रांतिकारियों की गतिविधियों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत कीजिए। गदर पार्टी, इंडिया हाउस और बर्लिन समिति के योगदान पर प्रकाश डालिए।
8. भारत में साम्प्रदायिकता के उदय और विकास के कारणों का विश्लेषण कीजिए। क्या साम्प्रदायिकता के विकास में ब्रिटिश नीतियाँ उत्तरदायी थीं? तर्क सहित उत्तर दीजिए।
9. लखनऊ समझौते की पृष्ठभूमि, प्रावधानों और परिणामों का विस्तृत विवेचन कीजिए। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में इसके महत्व का मूल्यांकन कीजिए।
10. होमरूल लीग आंदोलन की पृष्ठभूमि, उद्देश्यों और प्रभावों का विस्तार से वर्णन कीजिए। भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में इसके योगदान का मूल्यांकन कीजिए।

मॉड्यूल 2

राष्ट्रवाद का गांधी युग (एक)

उद्देश्य

1. गांधी जी के प्रारंभिक राजनीतिक जीवन और उनके योगदान को समझना।
2. असहयोग आंदोलन, रोलेट एक्ट, जलियांवाला बाग हत्याकांड और चौरी-चौरा कांड की घटनाओं का विश्लेषण करना।
3. साइमन कमीशन, नेहरू रिपोर्ट, और सविनय अवज्ञा आंदोलन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को जानना।
4. भारत छोड़ो आंदोलन तथा देशी राज्यों में राष्ट्रीय आंदोलन की भूमिका को समझना।
5. 1935 के भारत सरकार अधिनियम, वेवल योजना और शिमला सम्मेलन की राजनीतिक महत्ता को समझना।

इकाई 10: गांधी जी का प्रारंभिक राजनीतिक जीवन

मोहनदास करमचंद गांधी का जन्म 2 अक्टूबर 1869 को गुजरात के पोरबंदर में हुआ था। उनके पिता करमचंद गांधी पोरबंदर राज्य के दीवान थे, और माता पुतलीबाई एक धार्मिक महिला थीं। गांधी जी की प्रारंभिक शिक्षा पोरबंदर और राजकोट में हुई। उन्होंने राजकोट के अल्फ्रेड हार्ड स्कूल से मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की और फिर भावनगर के शामलदास कॉलेज में प्रवेश लिया। 19 वर्ष की आयु में वे कानून की शिक्षा के लिए इंग्लैंड गए और 1891 में बैरिस्टर बनकर भारत लौटे।

भारत लौटने के बाद उन्होंने बम्बई में वकालत शुरू की, लेकिन अधिक सफलता नहीं मिली। 1893 में एक भारतीय व्यापारिक फर्म द्वारा दक्षिण अफ्रीका में कानूनी मामलों के लिए नियुक्त किए गए। वहां पहुंचने पर उन्हें नस्लीय भेदभाव का सामना करना पड़ा। एक प्रसिद्ध घटना में, पीटरमारित्जबर्ग स्टेशन पर उन्हें प्रथम श्रेणी के डिब्बे से बाहर निकाल दिया गया, यद्यपि उनके पास वैध टिकट था। इस अनुभव ने उनके जीवन की दिशा बदल दी और वे दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के अधिकारों के लिए संघर्ष करने लगे। दक्षिण अफ्रीका में गांधी जी ने नटाल इंडियन कांग्रेस की स्थापना की और 'इंडियन ओपिनियन' नामक साप्ताहिक समाचार पत्र शुरू किया। उन्होंने अपने राजनीतिक संघर्ष के दौरान सत्याग्रह के सिद्धांत का विकास किया, जिसमें अहिंसात्मक विरोध और नैतिक दबाव के माध्यम से अन्याय का प्रतिरोध किया जाता था। 1906 में ट्रान्सवाल सरकार द्वारा एशियाटिक रजिस्ट्रेशन एक्ट (जिसे ब्लैक एक्ट के नाम से भी जाना जाता है) के विरुद्ध जोहान्सबर्ग में एक सभा आयोजित की गई, जिसमें गांधी जी ने सत्याग्रह का आह्वान किया। जोहान्सबर्ग के नज़दीक टॉलस्टॉय फार्म और फिनिक्स आश्रम की स्थापना करके गांधी जी ने अपने सिद्धांतों को व्यावहारिक रूप दिया। यहां वे सादगी, शारीरिक श्रम, और आत्मनिर्भरता के आदर्शों का पालन करते थे। 1914 में दक्षिण अफ्रीका सरकार के साथ समझौता होने के बाद,



जिसमें भारतीयों के खिलाफ भेदभावपूर्ण कानूनों को हटाने का वादा किया गया था, गांधी जी भारत लौट आए।

भारत लौटने पर गोपाल कृष्ण गोखले की सलाह पर गांधी जी ने एक वर्ष तक देश का भ्रमण किया और भारतीय समाज की समस्याओं को समझने का प्रयास किया। 1915 में उन्होंने अहमदाबाद के पास साबरमती नदी के किनारे साबरमती आश्रम की स्थापना की। यहां वे अपने अनुयायियों के साथ सादगी और आत्मनिर्भरता के सिद्धांतों पर आधारित जीवन जीते थे। गांधी जी का भारतीय राजनीति में पहला महत्वपूर्ण योगदान चंपारण सत्याग्रह (1917) था। बिहार के चंपारण में अंग्रेज बागान मालिक किसानों को नील की खेती करने के लिए मजबूर करते थे और उन्हें उचित मूल्य नहीं देते थे। राजकुमार शुक्ल नामक एक स्थानीय किसान के आग्रह पर गांधी जी ने चंपारण का दौरा किया और स्थिति का अध्ययन किया। उन्होंने किसानों की समस्याओं के समाधान के लिए सत्याग्रह आंदोलन शुरू किया। अंततः सरकार को झुकना पड़ा और किसानों की मांगें मानी गईं। इसके बाद 1918 में गांधी जी ने गुजरात के खेड़ा जिले में किसानों के लिए सत्याग्रह का आयोजन किया। अकाल के बावजूद सरकार किसानों से पूरा लगान वसूल करना चाहती थी। गांधी जी के नेतृत्व में किसानों ने लगान न देने का निर्णय लिया। आंदोलन के परिणामस्वरूप सरकार ने गरीब किसानों के लगान में छूट देने का निर्णय लिया। 1918 में ही अहमदाबाद के मिल मजदूरों के वेतन विवाद में गांधी जी ने हस्तक्षेप किया। उन्होंने मजदूरों के पक्ष में अनशन किया, जिससे मिल मालिक और मजदूर दोनों प्रभावित हुए और अंततः समझौता हो गया। इन तीनों संघर्षों - चंपारण, खेड़ा और अहमदाबाद - से गांधी जी को भारतीय जनता के बीच व्यापक पहचान मिली और वे राष्ट्रीय स्तर पर उभरे। उन्होंने देखा कि सत्याग्रह का सिद्धांत भारतीय परिस्थितियों में भी प्रभावी है और इसका उपयोग बड़े पैमाने पर किया जा सकता है। इन आंदोलनों ने गांधी जी को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और स्वतंत्रता संग्राम में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने का आधार प्रदान किया। 1919 में रोलेट एक्ट के विरोध में गांधी जी ने अखिल भारतीय स्तर पर सत्याग्रह का आह्वान किया, जिसके साथ ही उनका राष्ट्रीय राजनीति में प्रवेश हुआ। इस प्रकार चंपारण से लेकर रोलेट एक्ट तक के संघर्षों ने गांधी जी के प्रारंभिक राजनीतिक जीवन की नींव रखी और उन्हें भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का प्रमुख नेता बना दिया।

इकाई 11: असहयोग आन्दोलन: कारण, कार्यक्रम, रोलेट एक्ट एवं उसका विरोध, जलियांवाला बाग हत्याकाण्ड

रोलेट एक्ट और उसका विरोध

प्रथम विश्व युद्ध के बाद भारत में क्रांतिकारी गतिविधियों को दबाने के लिए ब्रिटिश सरकार ने सर सिडनी रोलेट की अध्यक्षता में एक समिति गठित की। इस समिति की सिफारिशों के आधार पर 1919 में रोलेट एक्ट पारित किया गया। इस कानून के तहत सरकार को बिना मुकदमा चलाए किसी भी व्यक्ति को गिरफ्तार करने, बिना वारंट के तलाशी लेने और लोगों को बिना किसी अपील

के जेल में रखने का अधिकार मिल गया। इस कानून को "काला कानून" (ब्लैक एक्ट) भी कहा जाता था। गांधी जी ने रोलेट एक्ट का विरोध करने के लिए 6 अप्रैल 1919 को अखिल भारतीय हड़ताल (हरताल) का आह्वान किया और सत्याग्रह आंदोलन शुरू किया। इस आंदोलन में लोगों से अपील की गई कि वे शांतिपूर्ण प्रदर्शन करें, उपवास रखें और प्रार्थना सभाएं आयोजित करें। देश के विभिन्न हिस्सों में बड़े पैमाने पर हड़तालें, जुलूस और सभाएं आयोजित की गईं।

पंजाब, जो प्रथम विश्व युद्ध में ब्रिटिश सेना के लिए सैनिकों का प्रमुख स्रोत था, में आंदोलन विशेष रूप से तीव्र था। अंग्रेज अधिकारियों ने आंदोलन को दबाने के लिए कठोर कदम उठाए। अमृतसर में डॉ. सत्यपाल और डॉ. सैफुद्दीन किचलू, जो रोलेट एक्ट के विरोध में सक्रिय थे, को गिरफ्तार कर लिया गया। इसके विरोध में 10 अप्रैल को लोगों ने विशाल प्रदर्शन किया, जिसमें हिंसा भी हुई।

जलियांवाला बाग हत्याकाण्ड

13 अप्रैल 1919 को अमृतसर के जलियांवाला बाग में बैसाखी के अवसर पर एक शांतिपूर्ण सभा आयोजित की गई, जिसमें हज़ारों लोग शामिल हुए। इस सभा का उद्देश्य रोलेट एक्ट के विरोध में प्रस्ताव पारित करना था। जनरल डायर ने बिना किसी चेतावनी के सभा स्थल पर सैनिकों के साथ प्रवेश किया और निहत्थे लोगों पर गोलियां चलवा दीं। इस नरसंहार में आधिकारिक आंकड़ों के अनुसार 379 लोग मारे गए और 1200 से अधिक घायल हुए, जबकि अनौपचारिक आंकड़े इससे कहीं अधिक थे।

जलियांवाला बाग हत्याकांड के बाद पंजाब में मार्शल लॉ लगा दिया गया और लोगों पर अत्याचार किए गए। इस हत्याकांड ने पूरे देश में आक्रोश पैदा किया और स्वतंत्रता संग्राम को एक नई दिशा दी। गांधी जी ने ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रदान किए गए "कैसर-ए-हिंद" पदक को लौटा दिया और अंग्रेज़ी सरकार के साथ असहयोग की नीति अपनाने का निर्णय लिया। हंटर कमीशन, जिसे जलियांवाला बाग हत्याकांड की जांच के लिए गठित किया गया था, ने जनरल डायर की कार्रवाई को अनुचित ठहराया, लेकिन उसे कोई गंभीर दंड नहीं दिया गया। इससे भारतीयों के मन में ब्रिटिश न्याय व्यवस्था के प्रति अविश्वास और गहरा हो गया।

खिलाफत आंदोलन

प्रथम विश्व युद्ध के बाद तुर्की के खलीफा, जो इस्लाम के धार्मिक प्रमुख थे, की स्थिति खतरे में पड़ गई थी। भारतीय मुसलमानों ने खलीफा के समर्थन में खिलाफत आंदोलन शुरू किया। मौलाना मोहम्मद अली, मौलाना शौकत अली, हकीम अजमल खान और अन्य मुस्लिम नेताओं ने इस आंदोलन का नेतृत्व किया। गांधी जी ने खिलाफत आंदोलन का समर्थन किया और इसे हिंदू-मुस्लिम एकता का एक अवसर माना। खिलाफत आंदोलन ने असहयोग आंदोलन को बड़ा जनाधार प्रदान किया और दोनों आंदोलन एक दूसरे के साथ जुड़ गए।

असहयोग आंदोलन: कारण और कार्यक्रम

जलियांवाला बाग हत्याकांड, रोलेट एक्ट, खिलाफत मुद्दा और सामान्य असंतोष के कारण गांधी जी



ने 1920 में असहयोग आंदोलन शुरू करने का निर्णय लिया। इस आंदोलन का मुख्य उद्देश्य था:

1. पंजाब के अत्याचारों के लिए न्याय प्राप्त करना
2. खिलाफत समस्या का समाधान
3. स्वराज (स्वशासन) की प्राप्ति

गांधी जी ने सत्याग्रह के सिद्धांत पर आधारित एक व्यापक कार्यक्रम तैयार किया, जिसमें शामिल था:

1. सरकारी उपाधियों और सम्मानों का त्याग
2. सरकारी समारोहों का बहिष्कार
3. सरकारी स्कूलों और कॉलेजों का बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा संस्थानों की स्थापना
4. अदालतों का बहिष्कार और पंचायतों की स्थापना
5. विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार और स्वदेशी वस्तुओं को अपनाना
6. विधान परिषदों के चुनावों का बहिष्कार
7. सरकारी नौकरियों से त्यागपत्र

कलकत्ता में सितंबर 1920 में आयोजित कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में असहयोग आंदोलन का प्रस्ताव पारित किया गया। दिसंबर 1920 में नागपुर अधिवेशन में इस प्रस्ताव की पुष्टि की गई और कांग्रेस के संविधान में संशोधन करके इसका उद्देश्य "शांतिपूर्ण और वैध साधनों से स्वराज प्राप्त करना" निर्धारित किया गया। असहयोग आंदोलन में देश के विभिन्न वर्गों - छात्र, वकील, किसान, मजदूर और महिलाएं - बड़े पैमाने पर शामिल हुए। हजारों छात्रों ने स्कूलों और कॉलेजों को छोड़ दिया और राष्ट्रीय संस्थानों में प्रवेश लिया। प्रसिद्ध वकीलों जैसे चित्तरंजन दास, मोतीलाल नेहरू और राजेंद्र प्रसाद ने अपनी वकालत छोड़ दी। लोगों ने विदेशी कपड़ों की होली जलाई और खादी अपनाई। आंदोलन के दौरान लोकप्रिय नेता अली बंधु, लाला लाजपत राय और चित्तरंजन दास को गिरफ्तार कर लिया गया। देश के विभिन्न हिस्सों में विरोध प्रदर्शन हुए और सत्याग्रह आंदोलन चलाए गए। 1921 में, जब प्रिंस ऑफ वेल्स (भावी राजा जॉर्ज पंचम) भारत आए, तो उनका स्वागत करने के बजाय हड़ताल और काले झंडे दिखाकर विरोध किया गया। असहयोग आंदोलन भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का पहला बड़ा जन आंदोलन था, जिसमें देश के सभी वर्गों और क्षेत्रों के लोग शामिल हुए। यह आंदोलन अपने चरम पर था, जब 5 फरवरी 1922 को उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जिले के चौरा-चौरा में एक घटना हुई, जिसने इस आंदोलन की दिशा बदल दी।

इकाई 12: चौरा-चौरा काण्ड और आन्दोलन की समाप्ति

चौरा-चौरा काण्ड

5 फरवरी 1922 को उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जिले के चौरा-चौरा नामक स्थान पर असहयोग आंदोलन के दौरान एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना घटी। यहां स्वयंसेवकों का एक जुलूस शांतिपूर्ण प्रदर्शन कर रहा था, जिसमें मुख्य रूप से किसान शामिल थे। स्थानीय पुलिस ने प्रदर्शनकारियों के साथ

दुर्व्यवहार किया और उन्हें तितर-बितर करने का प्रयास किया। इससे नाराज होकर भीड़ ने पुलिस थाने पर हमला कर दिया। पुलिसकर्मियों ने भीड़ पर गोलियां चलाई, जिससे कुछ लोग मारे गए। इससे क्रोधित होकर भीड़ ने थाने में आग लगा दी, जिसमें 22 पुलिसकर्मी जिंदा जल गए। यह घटना गांधी जी के अहिंसा के सिद्धांत के विपरीत थी। उन्होंने इस हिंसा की कड़ी निंदा की और 12 फरवरी 1922 को बारदोली प्रस्ताव पारित करके अचानक असहयोग आंदोलन वापस ले लिया। उन्होंने अपने निर्णय के बारे में कहा, "एक हिमालय जैसी भूल हो गई है"। गांधी जी का मानना था कि लोग अभी अहिंसक संघर्ष के लिए तैयार नहीं हैं और उन्हें इसकी शिक्षा देने की आवश्यकता है।

आंदोलन की समाप्ति का प्रभाव

असहयोग आंदोलन की अचानक समाप्ति से कई राष्ट्रवादी नेता और कार्यकर्ता निराश हुए। चित्तरंजन दास, मोतीलाल नेहरू, एन.सी. केलकर और अन्य नेताओं ने गांधी जी के निर्णय की आलोचना की। उनका मानना था कि आंदोलन को वापस लेने का निर्णय एकतरफा था और इसके लिए कांग्रेस कार्य समिति से परामर्श नहीं किया गया था। आंदोलन की समाप्ति के बाद कई युवा क्रांतिकारी, जैसे भगत सिंह, चंद्रशेखर आज़ाद और अन्य, सशस्त्र क्रांति के मार्ग पर चले गए। वे मानते थे कि अहिंसा के माध्यम से स्वतंत्रता प्राप्त करना संभव नहीं है और ब्रिटिश सरकार को बल प्रयोग से ही हटाया जा सकता है।

कांग्रेस में भी विभाजन हो गया। चित्तरंजन दास और मोतीलाल नेहरू ने स्वराज पार्टी की स्थापना की और विधान परिषदों में प्रवेश करके वहां से ब्रिटिश सरकार का विरोध करने की नीति अपनाई। इसे "परिषद प्रवेश" कहा गया। उनका मानना था कि विधायी संस्थाओं में प्रवेश करके वे सरकार की नीतियों का विरोध कर सकते हैं और उन्हें परेशान कर सकते हैं। 10 मार्च 1922 को गांधी जी को गिरफ्तार कर लिया गया और राजद्रोह के आरोप में 6 साल की सजा सुनाई गई। अहमदाबाद में हुए मुकदमे में गांधी जी ने अपने बचाव में कहा, "मैं अपने देश की सेवा करने के लिए ब्रिटिश सरकार के साथ असहयोग करने का अपराध स्वीकार करता हूं।" उन्होंने अदालत से कहा कि या तो उन्हें सबसे कठोर सजा दी जाए या पूरी तरह से रिहा किया जाए।

गांधी जी मार्च 1922 से 1924 तक येरवदा जेल में रहे। इस दौरान उन्होंने अपनी आत्मकथा "सत्य के प्रयोग" लिखना शुरू किया और राष्ट्रीय आंदोलन पर गहराई से विचार किया।

असहयोग आंदोलन की उपलब्धियां और महत्व

असहयोग आंदोलन तत्काल राजनीतिक लक्ष्यों को प्राप्त करने में विफल रहा, लेकिन इसने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को नई दिशा और शक्ति प्रदान की:

1. **जन जागरण:** यह पहला राष्ट्रव्यापी आंदोलन था, जिसमें समाज के सभी वर्गों - किसान, मजदूर, छात्र, वकील, महिलाएं - बड़े पैमाने पर शामिल हुए। इसने राष्ट्रीय चेतना का विस्तार किया और लोगों को स्वतंत्रता संग्राम से जोड़ा।



2. **अहिंसा का प्रभाव:** गांधी जी ने अहिंसा के सिद्धांत को स्वतंत्रता संग्राम का आधार बनाया और दिखाया कि बड़े पैमाने पर अहिंसक आंदोलन संभव है।
3. **हिंदू-मुस्लिम एकता:** खिलाफत और असहयोग आंदोलन के दौरान हिंदू-मुस्लिम एकता की भावना मजबूत हुई और दोनों समुदाय एक साथ संघर्ष में शामिल हुए।
4. **स्वदेशी और बहिष्कार:** विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार और स्वदेशी वस्तुओं को अपनाने से भारतीय उद्योगों, विशेष रूप से हथकरघा उद्योग को बढ़ावा मिला। खादी राष्ट्रीय आंदोलन का प्रतीक बन गई और चरखा स्वावलंबन का प्रतीक।
5. **राष्ट्रीय शिक्षा:** राष्ट्रीय विद्यालयों और महाविद्यालयों की स्थापना हुई, जैसे जामिया मिलिया इस्लामिया, काशी विद्यापीठ और गुजरात विद्यापीठ। इन संस्थानों ने राष्ट्रीय चेतना से ओतप्रोत शिक्षा प्रदान की।
6. **राजनीतिक प्रशिक्षण:** इस आंदोलन ने लोगों को राजनीतिक संघर्ष का प्रशिक्षण दिया और स्वतंत्रता संग्राम के भविष्य के चरणों के लिए आधार तैयार किया।
7. **अखिल भारतीय चरित्र:** आंदोलन ने कांग्रेस को एक अखिल भारतीय संगठन बनाया और इसके संगठनात्मक ढांचे का विस्तार करके इसे गांवों तक पहुंचाया।

असहयोग आंदोलन ब्रिटिश सत्ता की नींव को हिलाने में सफल रहा, भले ही इसने तत्काल स्वराज प्राप्त नहीं किया। इसने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के चरित्र को बदल दिया और इसे एक जन आंदोलन बना दिया। गांधी जी की रिहाई के बाद (1924) वे फिर से राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय हुए और 1930 में सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू किया।

इकाई 13: साइमन कमीशन, सर्वदलीय सम्मेलन और नेहरू रिपोर्ट, सविनय अवज्ञा आंदोलन

साइमन कमीशन

1919 के भारत सरकार अधिनियम के अंतर्गत यह प्रावधान था कि 10 वर्ष बाद भारत में संवैधानिक सुधारों की समीक्षा के लिए एक आयोग नियुक्त किया जाएगा। इसी के अनुसार नवंबर 1927 में ब्रिटिश सरकार ने सर जॉन साइमन की अध्यक्षता में एक आयोग नियुक्त किया, जिसे साइमन कमीशन के नाम से जाना जाता है। इस आयोग में सात सदस्य थे और सभी ब्रिटिश थे, कोई भी भारतीय सदस्य शामिल नहीं था। भारतीय राजनीतिक दलों ने साइमन कमीशन का बहिष्कार करने का निर्णय लिया। लाला लाजपत राय ने कहा, "भारत का भविष्य भारतीयों के द्वारा ही तय किया जाना चाहिए, न कि विदेशियों द्वारा।" कांग्रेस, मुस्लिम लीग, हिंदू महासभा और अन्य दलों ने इसका विरोध किया। फरवरी 1928 में जब साइमन कमीशन भारत पहुंचा, तो उसका "साइमन गो बैक" (साइमन वापस जाओ) के नारों से स्वागत किया गया। देश के विभिन्न भागों में कमीशन के विरोध में प्रदर्शन, हड़तालें और काले झंडे दिखाए गए। लाहौर में प्रदर्शन का नेतृत्व कर रहे लाला लाजपत राय पर पुलिस ने लाठीचार्ज किया, जिससे वे गंभीर रूप से घायल हो गए

और बाद में 17 नवंबर 1928 को उनकी मृत्यु हो गई। लाला जी की मृत्यु से पूरे देश में आक्रोश फैल गया और क्रांतिकारी आंदोलन को बल मिला। साइमन कमीशन ने मई 1930 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की, जिसमें प्रांतों में द्वैध शासन को समाप्त करने और संघीय शासन व्यवस्था स्थापित करने की सिफारिश की गई थी। हालांकि, इसमें भारत को पूर्ण स्वराज देने का कोई प्रावधान नहीं था। भारतीयों ने इस रिपोर्ट को अस्वीकार कर दिया।

सर्वदलीय सम्मेलन और नेहरू रिपोर्ट

साइमन कमीशन के बहिष्कार के बाद, भारतीय नेताओं ने अपना संविधान स्वयं तैयार करने का निर्णय लिया। फरवरी 1928 में दिल्ली में एक सर्वदलीय सम्मेलन आयोजित किया गया, जिसमें निर्णय लिया गया कि भारत के लिए एक संविधान का मसौदा तैयार किया जाए। इस कार्य के लिए पंडित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गई।

अगस्त 1928 में नेहरू समिति ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की, जिसे "नेहरू रिपोर्ट" के नाम से जाना जाता है। रिपोर्ट की मुख्य सिफारिशें थीं:

1. भारत को डोमिनियन स्टेटस दिया जाए
2. संघीय शासन व्यवस्था स्थापित की जाए
3. केंद्र में द्विसदनीय विधानमंडल हो
4. धर्म के आधार पर पृथक निर्वाचन प्रणाली समाप्त की जाए
5. मौलिक अधिकारों की गारंटी दी जाए
6. अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा की जाए

नेहरू रिपोर्ट को लेकर भारतीय राजनीतिक दलों में मतभेद थे। मुस्लिम लीग के एक वर्ग ने इसका विरोध किया क्योंकि इसमें पृथक निर्वाचन प्रणाली समाप्त करने का प्रस्ताव था। कांग्रेस के भीतर, जवाहरलाल नेहरू और सुभाष चंद्र बोस जैसे युवा नेताओं ने डोमिनियन स्टेटस के बजाय पूर्ण स्वतंत्रता की मांग की। दिसंबर 1928 में कलकत्ता अधिवेशन में कांग्रेस ने नेहरू रिपोर्ट को स्वीकार किया और घोषणा की कि यदि 31 दिसंबर 1929 तक ब्रिटिश सरकार भारत को डोमिनियन स्टेटस नहीं देती है, तो कांग्रेस पूर्ण स्वतंत्रता की मांग करेगी और सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू करेगी।

लाहौर अधिवेशन और पूर्ण स्वराज की घोषणा

31 दिसंबर 1929 को उत्तीर्ण हो जाने के बाद, जब ब्रिटिश सरकार ने डोमिनियन स्टेटस देने में कोई रुचि नहीं दिखाई, तो लाहौर में आयोजित कांग्रेस अधिवेशन में जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में 31 दिसंबर 1929 की मध्यरात्रि को पूर्ण स्वराज (पूर्ण स्वतंत्रता) की घोषणा की गई। कांग्रेस ने 26 जनवरी 1930 को पूरे देश में स्वतंत्रता दिवस के रूप में मनाने का निर्णय लिया। इस दिन लोगों ने "पूर्ण स्वराज की शपथ" ली।

लाहौर अधिवेशन में कांग्रेस कार्यसमिति को सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू करने का अधिकार



दिया गया। गांधी जी को इस आंदोलन का नेतृत्व सौंपा गया।

सविनय अवज्ञा आंदोलन

12 मार्च 1930 को गांधी जी ने अपने 78 अनुयायियों के साथ साबरमती आश्रम से दांडी तक की प्रसिद्ध "नमक यात्रा" शुरू की। 24 दिन की यात्रा के बाद, 6 अप्रैल 1930 को गांधी जी ने दांडी के समुद्र तट पर नमक कानून तोड़कर सविनय अवज्ञा आंदोलन की शुरुआत की। उन्होंने अपने हाथों से नमक बनाकर ब्रिटिश सरकार के नमक कानून को तोड़ा, जिसके तहत भारतीयों को नमक बनाने, बेचने या खरीदने पर प्रतिबंध था। नमक कानून तोड़ने के बाद आंदोलन तेजी से फैला और देश के विभिन्न भागों में नमक कानून तोड़े गए। गांधी जी ने सविनय अवज्ञा के अन्य कार्यक्रम भी चलाए, जैसे:

1. विदेशी कपड़ों का बहिष्कार और खादी को अपनाना
2. शराब की दुकानों पर धरना देना
3. सरकारी कर न देना
4. सरकारी कार्यालयों का बहिष्कार
5. जंगल कानूनों की अवहेलना और वन उत्पादों का संग्रह

देश के विभिन्न भागों में आंदोलन अलग-अलग रूपों में चला। खान अब्दुल गफ्फार खान ने सीमा प्रांत (वर्तमान पाकिस्तान के खैबर पख्तूनख्वा) में "खुदाई खिदमतगार" (सेवकों की सेना, जिसे "लाल कुर्ती" के नाम से भी जाना जाता था) की स्थापना की और अहिंसक विरोध प्रदर्शन किए।

तमिलनाडु में सी. राजगोपालाचारी ने वेदारण्यम में नमक सत्याग्रह का नेतृत्व किया। बिहार में राजेंद्र प्रसाद, गुजरात में वल्लभभाई पटेल, बंगाल में सुभाष चंद्र बोस और पंजाब में लाला लाजपत राय के अनुयायियों ने आंदोलन का नेतृत्व किया। आंदोलन में महिलाओं की भागीदारी उल्लेखनीय थी। कमला नेहरू, सरोजिनी नायडू, अवंतिकाबाई गोखले, हंसा मेहता और अन्य महिलाओं ने आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभाई। महिलाएं जुलूसों में शामिल हुईं, विदेशी कपड़ों की दुकानों पर धरना दिया और शराब की दुकानों का पिकेटिंग किया। ब्रिटिश सरकार ने आंदोलन को दबाने के लिए कठोर कदम उठाए। हजारों लोगों को गिरफ्तार किया गया, जिनमें गांधी जी भी शामिल थे। गांधी जी को 5 मई 1930 को गिरफ्तार कर येरवदा जेल में रखा गया। कांग्रेस को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया। पेशावर में "गढ़वाल राइफल्स" के सैनिकों ने निहत्थे प्रदर्शनकारियों पर गोली चलाने से इनकार कर दिया, जिससे सरकार घबरा गई।

गांधी-इरविन समझौता

वायसराय लॉर्ड इरविन ने आंदोलन को समाप्त करने के लिए 1931 में गांधी जी से बातचीत की। 5 मार्च 1931 को गांधी-इरविन समझौता (जिसे दिल्ली समझौता भी कहा जाता है) हुआ, जिसके अनुसार:

1. कांग्रेस सविनय अवज्ञा आंदोलन स्थगित करेगी

2. गांधी जी लंदन में होने वाले द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में भाग लेंगे
3. सरकार राजनीतिक बंदियों को रिहा करेगी
4. नमक बनाने की अनुमति दी जाएगी
5. शांतिपूर्ण पिकेटिंग की अनुमति होगी

इस समझौते की अनेक राष्ट्रवादियों ने आलोचना की, विशेष रूप से भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरु को फांसी दिए जाने के कारण। इन क्रांतिकारियों को 23 मार्च 1931 को, गांधी-इरविन समझौते के कुछ ही दिनों बाद, फांसी दे दी गई थी।

द्वितीय गोलमेज सम्मेलन

गांधी जी कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में द्वितीय गोलमेज सम्मेलन (सितंबर-दिसंबर 1931) में भाग लेने के लिए लंदन गए। वहां उन्होंने संपूर्ण भारत के प्रतिनिधि के रूप में बात करने का प्रयास किया, लेकिन अन्य भारतीय प्रतिनिधियों, जैसे डॉ. बी.आर. अंबेडकर (जो दलितों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे) और मुस्लिम लीग के नेताओं ने इसका विरोध किया। सम्मेलन में कोई समझौता नहीं हो सका और गांधी जी निराश होकर भारत लौटे। भारत लौटने पर उन्होंने पाया कि सरकार ने फिर से दमनात्मक नीति अपनाई है और सरदार पटेल और जवाहरलाल नेहरू सहित कई नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया है।

द्वितीय सविनय अवज्ञा आंदोलन

गांधी जी ने जनवरी 1932 में द्वितीय सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू करने का निर्णय लिया। इस बार आंदोलन का स्वरूप पहले से अधिक आक्रामक था। लेकिन आंदोलन शुरू होते ही 4 जनवरी 1932 को गांधी जी को गिरफ्तार कर लिया गया और कांग्रेस को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया। अगस्त 1932 में ब्रिटिश प्रधानमंत्री रैम्जे मैकडोनाल्ड ने "कम्युनल अवार्ड" (साम्प्रदायिक निर्णय) की घोषणा की, जिसमें दलितों के लिए अलग निर्वाचन क्षेत्रों का प्रावधान था। गांधी जी ने इसका विरोध किया और 20 सितंबर 1932 को जेल में आमरण अनशन शुरू किया। उनका मानना था कि इससे हिंदू समाज में स्थायी विभाजन हो जाएगा। डॉ. अंबेडकर के साथ बातचीत के बाद 24 सितंबर 1932 को पूना समझौता (पूना पैक्ट) हुआ, जिसके अनुसार दलितों के लिए अलग निर्वाचन क्षेत्रों के स्थान पर सामान्य निर्वाचन क्षेत्रों में आरक्षण दिया गया। इसके बाद गांधी जी ने अपना अनशन समाप्त किया। मई 1933 में गांधी जी ने सविनय अवज्ञा आंदोलन स्थगित कर दिया और व्यक्तिगत सत्याग्रह पर ध्यान केंद्रित किया। अप्रैल 1934 में उन्होंने औपचारिक रूप से आंदोलन वापस ले लिया।

सविनय अवज्ञा आंदोलन का महत्व

सविनय अवज्ञा आंदोलन भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का एक महत्वपूर्ण चरण था। यद्यपि इसने तत्काल स्वतंत्रता नहीं दिलाई, लेकिन इसने ब्रिटिश साम्राज्य की नींव को हिला दिया और स्वतंत्रता संग्राम को नई दिशा दी। आंदोलन की मुख्य उपलब्धियां थीं:

1. **राष्ट्रीय जागरण:** आंदोलन ने देश के हर वर्ग और क्षेत्र के लोगों को, विशेष रूप से महिलाओं और युवाओं को, स्वतंत्रता संग्राम से जोड़ा।
2. **अंतर्राष्ट्रीय प्रभाव:** आंदोलन ने विश्व जनमत को प्रभावित किया और भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता दिलाई।
3. **सरकार की प्रतिष्ठा को धक्का:** सरकार द्वारा शांतिपूर्ण प्रदर्शनकारियों पर किए गए अत्याचारों ने ब्रिटिश शासन की नैतिक प्रतिष्ठा को धक्का पहुंचाया।
4. **संवैधानिक सुधारों का प्रभाव:** आंदोलन के परिणामस्वरूप 1935 का भारत सरकार अधिनियम पारित हुआ, जिसमें कुछ संवैधानिक सुधार किए गए।
5. **स्वतंत्रता संग्राम का विस्तार:** आंदोलन ने स्वतंत्रता संग्राम को शहरों से गांवों तक पहुंचाया और इसे एक व्यापक जन आंदोलन बना दिया।

सविनय अवज्ञा आंदोलन गांधी जी के नेतृत्व में चलाए गए तीन प्रमुख राष्ट्रव्यापी आंदोलनों में से दूसरा था, जिसने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को और मजबूत किया। इस आंदोलन ने भारतीयों में आत्मविश्वास पैदा किया और उन्हें दिखाया कि अहिंसक प्रतिरोध भी ब्रिटिश साम्राज्य को चुनौती दे सकता है।

इकाई 14: राष्ट्रवाद का गांधी युग (दो)

गांधी युग के दौरान भारतीय राष्ट्रवाद न केवल राजनीतिक आंदोलन था, बल्कि यह एक सामाजिक और सांस्कृतिक आंदोलन भी था, जिसका उद्देश्य भारतीय समाज का आंतरिक परिवर्तन और पुनर्निर्माण था। गांधी जी स्वतंत्रता को केवल राजनीतिक स्वतंत्रता तक सीमित नहीं मानते थे, बल्कि वे आर्थिक, सामाजिक और नैतिक स्वतंत्रता पर भी बल देते थे।

गांधीवादी दर्शन और कार्यक्रम

गांधी जी का दर्शन सत्य, अहिंसा और सत्याग्रह के सिद्धांतों पर आधारित था। उनका मानना था कि राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ-साथ समाज का आंतरिक परिवर्तन भी आवश्यक है। इसके लिए उन्होंने निम्नलिखित कार्यक्रमों पर जोर दिया:

1. **रचनात्मक कार्यक्रम:** गांधी जी ने 1920 के दशक में एक रचनात्मक कार्यक्रम प्रस्तुत किया, जिसमें शामिल थे:
 - हिंदू-मुस्लिम एकता
 - अस्पृश्यता का उन्मूलन
 - खादी और ग्रामोद्योग का विकास
 - मद्य निषेध
 - बुनियादी और राष्ट्रीय शिक्षा
 - ग्राम स्वराज और पंचायतों की स्थापना
 - स्वच्छता और स्वास्थ्य

- महिला सशक्तिकरण
 - किसानों और मजदूरों के हित
2. **सत्याग्रह और अहिंसा:** गांधी जी ने अहिंसक प्रतिरोध का सिद्धांत विकसित किया, जिसे सत्याग्रह कहा जाता है। यह शारीरिक बल के बजाय नैतिक बल के प्रयोग पर आधारित था। उनका मानना था कि अन्याय का विरोध करना हर व्यक्ति का कर्तव्य है, लेकिन यह विरोध अहिंसक होना चाहिए।
 3. **स्वदेशी और स्वावलंबन:** गांधी जी ने विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार और स्वदेशी वस्तुओं को अपनाने पर जोर दिया। उन्होंने चरखे को आर्थिक स्वावलंबन और स्वदेशी का प्रतीक बनाया। खादी न केवल आर्थिक स्वावलंबन का माध्यम थी, बल्कि यह राष्ट्रीय एकता का प्रतीक भी थी।
 4. **ग्राम स्वराज:** गांधी जी ग्रामीण भारत के पुनर्निर्माण के पक्षधर थे। उनका मानना था कि भारत की आत्मा गांवों में बसती है और स्वतंत्र भारत का आधार स्वावलंबी और आत्मनिर्भर गांव होने चाहिए। उन्होंने ग्राम पंचायतों को मजबूत करने और ग्रामीण उद्योगों को बढ़ावा देने पर जोर दिया।
 5. **सामाजिक सुधार:** गांधी जी सामाजिक बुराइयों जैसे अस्पृश्यता, जाति प्रथा, बाल विवाह और पर्दा प्रथा के विरोधी थे। उन्होंने अस्पृश्यता उन्मूलन के लिए सक्रिय प्रयास किए और दलितों को "हरिजन" (ईश्वर के बच्चे) नाम दिया। 1932 में उन्होंने "हरिजन सेवक संघ" की स्थापना की और "हरिजन" नामक साप्ताहिक पत्रिका शुरू की।
 6. **धार्मिक और नैतिक आधार:** गांधी जी का राष्ट्रवाद धार्मिक और नैतिक मूल्यों पर आधारित था। उनके लिए राजनीति और धर्म अलग-अलग नहीं थे। उनका मानना था कि राजनीति धर्म से निर्देशित होनी चाहिए, लेकिन यहां धर्म का अर्थ संप्रदायवाद नहीं, बल्कि नैतिक मूल्य और सत्य के प्रति निष्ठा था।
 7. **साम्प्रदायिक एकता:** गांधी जी हिंदू-मुस्लिम एकता के पक्षधर थे और सभी धर्मों के बीच सद्भाव स्थापित करना चाहते थे। उन्होंने खिलाफत आंदोलन का समर्थन करके हिंदू-मुस्लिम एकता को बढ़ावा देने का प्रयास किया।

गांधीवादी राष्ट्रवाद की विशेषताएं

गांधीवादी राष्ट्रवाद की कुछ प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित थीं:

1. **अहिंसा और सत्याग्रह:** गांधी जी ने अहिंसा और सत्याग्रह को राष्ट्रीय आंदोलन का मुख्य हथियार बनाया। उनका मानना था कि अहिंसा केवल कमजोरों का नहीं, बल्कि शक्तिशालियों का भी हथियार है।
2. **जन आंदोलन:** गांधी जी ने राष्ट्रीय आंदोलन को जन आंदोलन बनाया और इसमें समाज के सभी वर्गों - किसान, मजदूर, छात्र, महिलाएं, व्यापारी - को शामिल किया।

3. **साम्राज्यवाद विरोध और स्वदेशी:** गांधी जी ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विरोध किया और स्वदेशी और आत्मनिर्भरता पर बल दिया।
4. **सांस्कृतिक पुनर्जागरण:** गांधी जी ने भारतीय संस्कृति और मूल्यों के पुनरुत्थान पर जोर दिया और पश्चिमी संस्कृति के अंधानुकरण का विरोध किया।
5. **सामाजिक समानता:** गांधी जी सामाजिक समानता के पक्षधर थे और जाति, धर्म और लिंग के आधार पर भेदभाव का विरोध करते थे।
6. **आर्थिक स्वावलंबन:** गांधी जी ने आर्थिक स्वावलंबन और ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर जोर दिया। उनका मानना था कि स्वतंत्र भारत में बड़े उद्योगों के बजाय कुटीर और ग्रामीण उद्योगों को प्राथमिकता मिलनी चाहिए।
7. **राजनीतिक स्वतंत्रता और आंतरिक स्वराज:** गांधी जी के लिए स्वराज का अर्थ केवल राजनीतिक स्वतंत्रता नहीं, बल्कि आंतरिक स्वराज भी था, जिसका अर्थ था व्यक्ति और समाज का नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान।

गांधीवादी राष्ट्रवाद का प्रभाव

गांधीवादी राष्ट्रवाद ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम और समाज पर गहरा प्रभाव डाला:

1. **जन आंदोलन:** गांधी जी ने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को अभिजात वर्ग के आंदोलन से जन आंदोलन में बदल दिया। उन्होंने कांग्रेस का पुनर्गठन किया और इसे अधिक प्रतिनिधिमूलक बनाया।
2. **रचनात्मक कार्यक्रम:** गांधी जी के रचनात्मक कार्यक्रम ने समाज सुधार और सामाजिक परिवर्तन को प्रोत्साहित किया। इसने दलितों, महिलाओं और अन्य वंचित वर्गों के उत्थान में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।
3. **स्वदेशी और स्वावलंबन:** स्वदेशी आंदोलन ने भारतीय उद्योगों, विशेष रूप से हथकरघा और कुटीर उद्योगों को बढ़ावा दिया और आर्थिक स्वावलंबन की भावना पैदा की।
4. **अंतर्राष्ट्रीय प्रभाव:** गांधी जी के अहिंसक प्रतिरोध के सिद्धांत ने दुनिया भर के स्वतंत्रता संग्रामों और नागरिक अधिकार आंदोलनों को प्रभावित किया, जैसे मार्टिन लूथर किंग जूनियर का अमेरिका में नागरिक अधिकार आंदोलन और दक्षिण अफ्रीका में नेल्सन मंडेला का रंगभेद विरोधी संघर्ष।
5. **स्वतंत्रता प्राप्ति:** गांधीवादी आंदोलन ने अंततः भारत को स्वतंत्रता दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। गांधी जी की अहिंसक नीतियों ने ब्रिटिश साम्राज्य को नैतिक रूप से चुनौती दी और उसे भारत छोड़ने के लिए मजबूर किया।
6. **विकेंद्रीकरण और ग्राम स्वराज:** गांधी जी के ग्राम स्वराज के विचार ने स्वतंत्र भारत में विकेंद्रीकरण और पंचायती राज व्यवस्था को प्रभावित किया।

गांधीवादी राष्ट्रवाद एक व्यापक दृष्टिकोण था, जो राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ-साथ सामाजिक

और आर्थिक परिवर्तन पर भी जोर देता था। इसने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को एक अनूठा चरित्र प्रदान किया और विश्व इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ा।

इकाई 15: 1935 का भारत सरकार अधिनियम

1935 का भारत सरकार अधिनियम (Government of India Act, 1935) ब्रिटिश भारत के संवैधानिक इतिहास का एक महत्वपूर्ण मोड़ था। यह अधिनियम भारत में ब्रिटिश शासन के अंतिम बड़े संवैधानिक सुधार का प्रतिनिधित्व करता था और स्वतंत्र भारत के संविधान की नींव रखी।

पृष्ठभूमि

1935 के अधिनियम की पृष्ठभूमि में तीन गोलमेज सम्मेलन (1930-32) थे, जिन्हें भारत के लिए एक नए संविधान के निर्माण के उद्देश्य से आयोजित किया गया था। इन सम्मेलनों में भारतीय राजनीतिक दलों, देशी रियासतों और ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। प्रथम गोलमेज सम्मेलन (1930) में कांग्रेस ने भाग नहीं लिया क्योंकि वह सविनय अवज्ञा आंदोलन में व्यस्त थी। द्वितीय गोलमेज सम्मेलन (1931) में गांधी जी ने कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया, लेकिन वहां कोई समझौता नहीं हो सका। तृतीय गोलमेज सम्मेलन (1932) में भी कोई ठोस परिणाम नहीं निकला। इन सम्मेलनों के बाद, ब्रिटिश सरकार ने एक श्वेत पत्र (White Paper) जारी किया, जिसमें भारत के लिए प्रस्तावित संवैधानिक सुधारों का उल्लेख था। इस श्वेत पत्र के आधार पर, ब्रिटिश संसद ने 1935 का भारत सरकार अधिनियम पारित किया, जो 2 अगस्त 1935 को शाही मंजूरी (Royal Assent) प्राप्त करने के बाद कानून बन गया।

अधिनियम की मुख्य विशेषताएं

1935 के भारत सरकार अधिनियम में दो मुख्य भाग थे:

1. संघीय शासन व्यवस्था (Federal Part)
2. प्रांतीय स्वायत्तता (Provincial Autonomy)

संघीय शासन व्यवस्था

1. **अखिल भारतीय संघ:** अधिनियम में ब्रिटिश भारत के प्रांतों और देशी रियासतों को मिलाकर एक अखिल भारतीय संघ बनाने का प्रावधान था। संघ में 11 गवर्नर प्रांत और 6 मुख्य आयुक्त प्रांत शामिल होने थे। देशी रियासतों को संघ में शामिल होने का विकल्प दिया गया था।
2. **द्विसदनीय विधानमंडल:** केंद्र में एक द्विसदनीय विधानमंडल की व्यवस्था की गई थी, जिसमें राज्य परिषद (Council of State) और संघीय विधानसभा (Federal Assembly) शामिल थे। राज्य परिषद में 260 सदस्य होने थे, जिनमें से 156 ब्रिटिश भारत से और 104 देशी रियासतों से चुने जाने थे। संघीय विधानसभा में 375 सदस्य होने थे, जिनमें से 250 ब्रिटिश भारत से और 125 देशी रियासतों से चुने जाने थे।
3. **वायसराय और उसकी शक्तियां:** संघीय शासन का प्रमुख वायसराय होना था, जो ब्रिटिश

क्राउन का प्रतिनिधि था। उसे विशेष शक्तियां और वीटो का अधिकार प्राप्त था। वायसराय की सहायता के लिए एक मंत्रिपरिषद होनी थी, लेकिन वह मंत्रिपरिषद के परामर्श से बाध्य नहीं था।

4. **संघीय न्यायालय:** अधिनियम में एक संघीय न्यायालय की स्थापना का प्रावधान था, जिसके अध्यक्ष एक मुख्य न्यायाधीश और अधिकतम 6 अन्य न्यायाधीश होते। इस न्यायालय का कार्य संविधान की व्याख्या करना और केंद्र-राज्य विवादों का निपटारा करना था।
5. **आरक्षित विषय:** केंद्र सरकार के पास कुछ विषय आरक्षित थे, जैसे रक्षा, विदेशी मामले, मुद्रा और कुछ महत्वपूर्ण औद्योगिक क्षेत्र। इन विषयों पर वायसराय का निर्णय अंतिम होता था।

प्रांतीय स्वायत्तता

1. **द्वैध शासन का अंत:** प्रांतों में द्वैध शासन (Dyarchy) समाप्त कर दिया गया और सभी विषय प्रांतीय मंत्रियों को सौंप दिए गए, जो विधानसभा के प्रति उत्तरदायी थे।
2. **गवर्नर की शक्तियां:** प्रत्येक प्रांत का प्रमुख एक गवर्नर होता था, जिसे विशेष शक्तियां प्राप्त थीं। गवर्नर अपने विवेक से कार्य कर सकता था और उसे वीटो का अधिकार था।
3. **प्रांतीय विधानमंडल:** अधिकांश प्रांतों में द्विसदनीय विधानमंडल की व्यवस्था की गई, जिसमें विधान परिषद (उच्च सदन) और विधानसभा (निम्न सदन) शामिल थे। कुछ छोटे प्रांतों में एकसदनीय विधानमंडल थे।
4. **मताधिकार का विस्तार:** मताधिकार का विस्तार किया गया और लगभग 35 मिलियन लोगों को मताधिकार प्राप्त हुआ, जो कुल जनसंख्या का लगभग 10% था।
5. **पृथक निर्वाचन:** अधिनियम में धर्म और जाति के आधार पर पृथक निर्वाचन प्रणाली का प्रावधान था। मुसलमानों, सिखों, ईसाइयों, एंग्लो-इंडियंस और दलितों के लिए अलग-अलग निर्वाचन क्षेत्र थे।
6. **संघीय सूची, प्रांतीय सूची और समवर्ती सूची:** अधिनियम में विषयों को तीन सूचियों में विभाजित किया गया था - संघीय सूची (Federal List), प्रांतीय सूची (Provincial List) और समवर्ती सूची (Concurrent List)। संघीय सूची के विषयों पर केंद्र सरकार, प्रांतीय सूची के विषयों पर प्रांतीय सरकार और समवर्ती सूची के विषयों पर दोनों कानून बना सकते थे, लेकिन विरोध की स्थिति में केंद्र का कानून मान्य होता था।

अधिनियम का क्रियान्वयन

1935 के अधिनियम का संघीय भाग कभी लागू नहीं हुआ, क्योंकि देशी रियासतें संघ में शामिल होने के लिए तैयार नहीं थीं। द्वितीय विश्व युद्ध (1939) के आरंभ होने के कारण भी इसके क्रियान्वयन में देरी हुई। हालांकि, प्रांतीय स्वायत्तता वाला भाग 1 अप्रैल 1937 से लागू हुआ। प्रांतों में चुनाव हुए और कांग्रेस ने 11 में से 8 प्रांतों में सरकार बनाई। तीन प्रांतों - बंगाल, पंजाब और

सिंध - में अन्य दलों ने सरकार बनाई। द्वितीय विश्व युद्ध के आरंभ होने पर, वायसराय ने बिना कांग्रेस से परामर्श किए भारत को युद्ध में शामिल कर दिया। इसके विरोध में अक्टूबर 1939 में कांग्रेस ने अपने सभी प्रांतीय मंत्रिमंडलों से त्यागपत्र देने को कहा।

अधिनियम का महत्व और आलोचना

1935 का अधिनियम स्वतंत्र भारत के संविधान का आधार बना। स्वतंत्र भारत के संविधान की कई विशेषताएं, जैसे संघीय शासन प्रणाली, शक्तियों का विभाजन, न्यायपालिका की स्वतंत्रता और संसदीय शासन प्रणाली, 1935 के अधिनियम से ली गई हैं।

हालांकि, भारतीय राष्ट्रवादियों ने इस अधिनियम की आलोचना की। जवाहरलाल नेहरू ने इसे "गुलामी का चार्टर" कहा। कांग्रेस और अन्य दलों के मुख्य आलोचनात्मक बिंदु थे:

1. अधिनियम में पूर्ण स्वतंत्रता (पूर्ण स्वराज) का कोई उल्लेख नहीं था।
2. वायसराय और गवर्नरों को अत्यधिक शक्तियां दी गई थीं, जिससे वास्तविक लोकतंत्र की स्थापना संभव नहीं थी।
3. धर्म और जाति के आधार पर पृथक निर्वाचन प्रणाली से सांप्रदायिक विभाजन को बढ़ावा मिला।
4. मताधिकार सीमित था और अधिकांश भारतीय इससे वंचित थे।
5. केंद्र में जिम्मेदार सरकार की व्यवस्था नहीं थी और वायसराय बहुत शक्तिशाली था।

इन आलोचनाओं के बावजूद, 1935 का अधिनियम महत्वपूर्ण था क्योंकि इसने भारतीयों को प्रांतीय स्तर पर सरकार चलाने का अनुभव प्रदान किया और स्वतंत्र भारत के संविधान का मार्ग प्रशस्त किया।

इकाई 16: भारत छोड़ो आन्दोलन

भारत छोड़ो आंदोलन (Quit India Movement) भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का अंतिम बड़ा जन आंदोलन था, जिसे अगस्त 1942 में महात्मा गांधी के नेतृत्व में शुरू किया गया था। यह आंदोलन ब्रिटिश शासन के खिलाफ भारतीयों के संघर्ष का एक महत्वपूर्ण मोड़ था और इसने स्वतंत्रता प्राप्ति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

पृष्ठभूमि

द्वितीय विश्व युद्ध की शुरुआत (सितंबर 1939) के साथ ही भारतीय राजनीति में नया मोड़ आया। वायसराय लॉर्ड लिनलिथगो ने बिना भारतीय नेताओं से परामर्श किए भारत को युद्ध में शामिल कर दिया। कांग्रेस ने इसका विरोध किया और अपने प्रांतीय मंत्रिमंडलों से त्यागपत्र देने को कहा। कांग्रेस की मांग थी कि ब्रिटिश सरकार भारत के स्वतंत्रता के उद्देश्यों को स्पष्ट करे और एक अंतरिम राष्ट्रीय सरकार की स्थापना करे। अक्टूबर 1940 में गांधी जी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह आंदोलन शुरू किया, जिसमें चुने हुए व्यक्तियों ने युद्ध विरोधी भाषण देकर गिरफ्तारी दी। विनोबा भावे पहले सत्याग्रही थे, उनके बाद जवाहरलाल नेहरू और फिर अन्य नेताओं ने सत्याग्रह किया।



मार्च 1942 में, ब्रिटिश प्रधानमंत्री विंस्टन चर्चिल ने सर स्टैफोर्ड क्रिप्स को भारत भेजा (क्रिप्स मिशन) ताकि भारतीय नेताओं का सहयोग प्राप्त किया जा सके। क्रिप्स प्रस्ताव में युद्ध के बाद भारत को डोमिनियन स्टेटस देने का वादा किया गया था, लेकिन तत्काल कोई परिवर्तन नहीं किया जाना था। इसके अलावा, देशी रियासतों को संघ से अलग रहने का विकल्प दिया गया था, जिससे भारत के विभाजन का खतरा पैदा हो गया था। कांग्रेस ने इस प्रस्ताव को "पोस्ट डेटेड चेक" (भविष्य की तारीख का चेक) कहकर अस्वीकार कर दिया। क्रिप्स मिशन की विफलता के बाद, भारतीय नेताओं में निराशा और आक्रोश बढ़ गया। इसके अलावा, जापानी सेना का बर्मा (वर्तमान म्यांमार) पर कब्जा और भारत की सीमा की ओर बढ़ना भी चिंता का विषय था। इन परिस्थितियों में, गांधी जी ने ब्रिटिश शासन के विरुद्ध एक बड़े आंदोलन की योजना बनाई।

भारत छोड़ो प्रस्ताव और आंदोलन की शुरुआत

14 जुलाई 1942 को कांग्रेस कार्यसमिति की वर्धा में बैठक हुई, जिसमें "भारत छोड़ो" प्रस्ताव पारित किया गया। इस प्रस्ताव में ब्रिटिश सरकार से भारत से तत्काल हटने की मांग की गई थी और कहा गया था कि स्वतंत्र भारत मित्र राष्ट्रों के साथ मिलकर फासीवाद और नाजीवाद के खिलाफ लड़ेगा। 7-8 अगस्त 1942 को बंबई में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की बैठक हुई, जिसमें "भारत छोड़ो" प्रस्ताव को अंतिम रूप दिया गया। 8 अगस्त को गांधी जी ने अपने प्रसिद्ध भाषण में "करो या मरो" (Do or Die) का नारा दिया और कहा, "मैं अब ब्रिटिश सरकार से छोटे-मोटे सुधारों की मांग नहीं करता। मैं उनसे भारत से चले जाने के लिए कहता हूँ।" गांधी जी ने आंदोलन को अहिंसक रखने पर जोर दिया और कहा कि प्रत्येक भारतीय को अपने आप को एक स्वतंत्र नागरिक समझना चाहिए और अंग्रेजों के विरुद्ध अहिंसक संघर्ष करना चाहिए। लेकिन ब्रिटिश सरकार ने आंदोलन को कुचलने का निर्णय लिया। 9 अगस्त की सुबह गांधी जी सहित सभी प्रमुख कांग्रेसी नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। गांधी जी को पूना के आगा खान पैलेस में नजरबंद किया गया, जबकि अन्य नेताओं को देश के विभिन्न जेलों में रखा गया। कांग्रेस को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया और उसके कार्यालयों पर कब्जा कर लिया गया।

आंदोलन का स्वरूप

नेताओं की गिरफ्तारी के बाद, आंदोलन नेतृत्वविहीन हो गया और जनता ने स्वतः स्फूर्त रूप से विरोध प्रदर्शन किए। आंदोलन के प्रमुख केंद्र थे - बिहार, उत्तर प्रदेश, बंगाल, महाराष्ट्र, कर्नाटक और ओडिशा। बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश में आंदोलन अत्यंत तीव्र था।

आंदोलन के दौरान विरोध के अनेक रूप देखने को मिले:

1. **हड़ताल और प्रदर्शन:** देश भर में हड़तालें, बंद, जुलूस और प्रदर्शन हुए। छात्रों ने स्कूल और कॉलेज छोड़ दिए और आंदोलन में शामिल हो गए।
2. **सरकारी संस्थानों पर हमले:** कई स्थानों पर प्रदर्शनकारियों ने पुलिस स्टेशन, डाकघर, रेलवे स्टेशन और अन्य सरकारी भवनों पर हमले किए।

3. **समानांतर सरकार:** कुछ क्षेत्रों में प्रदर्शनकारियों ने "समानांतर सरकार" या "राष्ट्रीय सरकार" स्थापित की। बिहार में सतीश समांता, जगजीवन राम और रामनंदन मिश्र के नेतृत्व में, बलिया (उत्तर प्रदेश) में चित्तू पांडेय के नेतृत्व में, मिदनापुर (बंगाल) में सातारा (महाराष्ट्र) में नाना पाटिल के नेतृत्व में और तालचेर (ओडिशा) में समानांतर सरकारें स्थापित की गईं।
4. **भूमिगत गतिविधियां:** कई कांग्रेसी नेता और कार्यकर्ता भूमिगत हो गए और गुप्त रूप से आंदोलन का संचालन करने लगे। जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया, अरुणा आसफ अली, सुचेता कृपलानी, बिजू पटनायक और अन्य नेताओं ने भूमिगत रहकर आंदोलन का नेतृत्व किया। उन्होंने गुप्त रेडियो स्टेशन स्थापित किए और पर्चे वितरित किए।
5. **आज़ाद दस्ता और सेना:** उषा मेहता के नेतृत्व में मुंबई में "आज़ाद दस्ता" और बिहार में "आज़ाद सेना" जैसे संगठन बनाए गए, जो प्रतिरोध गतिविधियों में शामिल थे।

सरकारी दमन

ब्रिटिश सरकार ने आंदोलन को कुचलने के लिए कठोर कदम उठाए:

1. **गिरफ्तारियां:** आंदोलन के दौरान लगभग 1,00,000 लोगों को गिरफ्तार किया गया।
2. **लाठीचार्ज और गोलीबारी:** प्रदर्शनकारियों पर लाठीचार्ज और गोलीबारी की गई, जिसमें हजारों लोग मारे गए और घायल हुए।
3. **सामूहिक जुर्माना:** कई गांवों और कस्बों पर सामूहिक जुर्माना लगाया गया।
4. **सेंसरशिप:** प्रेस पर कड़ी सेंसरशिप लगाई गई और कई समाचार पत्रों को बंद कर दिया गया।
5. **सैनिक कार्रवाई:** कुछ क्षेत्रों में सेना को तैनात किया गया और मार्शल लॉ लगाया गया।

आंदोलन का प्रभाव और परिणाम

भारत छोड़ो आंदोलन ने ब्रिटिश शासन को गंभीर चुनौती दी और भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को एक नई दिशा दी। इसके प्रमुख परिणाम थे:

1. **राष्ट्रीय एकता:** आंदोलन ने देश के विभिन्न वर्गों और क्षेत्रों के लोगों को एकजुट किया और राष्ट्रीय एकता को मजबूत किया।
2. **ब्रिटिश साम्राज्य का क्षरण:** आंदोलन ने ब्रिटिश साम्राज्य की नींव को कमजोर किया और उन्हें यह एहसास दिलाया कि भारत पर अब लंबे समय तक शासन करना संभव नहीं है।
3. **अंतर्राष्ट्रीय समर्थन:** आंदोलन ने विश्व जनमत को प्रभावित किया और भारतीय स्वतंत्रता के लिए अंतर्राष्ट्रीय समर्थन जुटाया।
4. **राजनीतिक जागरूकता:** आंदोलन ने आम जनता में राजनीतिक जागरूकता पैदा की और उन्हें स्वतंत्रता संग्राम का हिस्सा बनाया।
5. **स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त:** आंदोलन ने अंततः स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त किया और



ब्रिटिश सरकार को भारत छोड़ने के लिए मजबूर किया।

द्वितीय विश्व युद्ध के अंत तक, भारत छोड़ो आंदोलन धीरे-धीरे कमजोर पड़ गया, लेकिन इसने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को एक नई ऊर्जा और दिशा दी। 1945 में, युद्ध समाप्त होने के बाद, ब्रिटिश सरकार ने भारत को स्वतंत्रता देने की योजना बनाना शुरू किया, जिसके परिणामस्वरूप 1947 में भारत स्वतंत्र हुआ।

इकाई 17: देशी राज्यों में राष्ट्रीय आन्दोलन

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में देशी राज्यों (रियासतों) में चलने वाले राष्ट्रीय आंदोलन का महत्वपूर्ण स्थान है। ब्रिटिश शासन के अंतर्गत भारत दो भागों में विभाजित था - ब्रिटिश भारत, जो सीधे ब्रिटिश शासन के अधीन था, और देशी राज्य, जो अप्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश नियंत्रण में थे लेकिन जिनका शासन स्थानीय राजाओं, नवाबों और अन्य शासकों द्वारा किया जाता था। 1947 में स्वतंत्रता के समय भारत में लगभग 565 देशी राज्य थे, जो भारत के कुल क्षेत्रफल का लगभग 40% और जनसंख्या का 23% थे। इन राज्यों का आकार और महत्व अलग-अलग था, कुछ बड़े राज्य जैसे हैदराबाद, कश्मीर, मैसूर और बड़ौदा थे, तो कुछ छोटे राज्य केवल कुछ गांवों तक ही सीमित थे।

देशी राज्यों की राजनीतिक स्थिति

देशी राज्यों में शासकों के पास आंतरिक मामलों में काफी स्वायत्तता थी, लेकिन ब्रिटिश भारत के साथ संबंधों, विदेशी मामलों और रक्षा के लिए वे ब्रिटिश सरकार पर निर्भर थे। ब्रिटिश सरकार ने इन राज्यों के साथ "अधीनता संधियां" (Subsidiary Alliances) की थीं और वहां अपने प्रतिनिधि (रेजिडेंट) नियुक्त किए थे, जो शासकों के कार्यों पर नजर रखते थे। अधिकांश देशी राज्यों में निरंकुश शासन था। इन राज्यों में नागरिक स्वतंत्रता, प्रेस की आजादी और लोकतांत्रिक अधिकार सीमित थे। राजाओं और नवाबों के पास असीमित शक्तियां थीं और वे अपनी प्रजा के साथ मनमाना व्यवहार करते थे। कुछ प्रगतिशील शासक भी थे, जैसे बड़ौदा के सयाजीराव गायकवाड़, मैसूर के कृष्णराज वाडियार और त्रावणकोर के श्री चित्तिरा तिरुनाल, जिन्होंने अपने राज्यों में सामाजिक और आर्थिक सुधार किए।

देशी राज्यों में राष्ट्रीय आंदोलन का विकास

देशी राज्यों में राष्ट्रीय आंदोलन का विकास ब्रिटिश भारत की तुलना में देर से हुआ। इसके मुख्य कारण थे:

1. **निरंकुश शासन:** अधिकांश देशी राज्यों में निरंकुश शासन था, जहां राजनीतिक गतिविधियों पर प्रतिबंध था और विरोध को सख्ती से दबाया जाता था।
2. **ब्रिटिश नीति:** ब्रिटिश सरकार ने देशी राजाओं को संरक्षण दिया और उन्हें अपने राज्यों में राष्ट्रवादी गतिविधियों को दबाने के लिए प्रोत्साहित किया।
3. **कांग्रेस की नीति:** शुरुआती दौर में, कांग्रेस ने देशी राज्यों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप

न करने की नीति अपनाई थी।

4. **सामाजिक-आर्थिक पिछड़ापन:** अधिकांश देशी राज्यों में शिक्षा, उद्योग और नागरिक सुविधाओं का स्तर ब्रिटिश भारत से पिछड़ा हुआ था, जिससे राजनीतिक जागरूकता कम थी।

हालांकि, 1920 के दशक से देशी राज्यों में भी राष्ट्रीय आंदोलन शुरू हुआ और धीरे-धीरे मजबूत होता गया। इस आंदोलन का मुख्य उद्देश्य था:

1. जनतांत्रिक अधिकारों और नागरिक स्वतंत्रता की प्राप्ति
2. जवाबदेह और उत्तरदायी सरकार की स्थापना
3. आर्थिक शोषण का अंत
4. सामाजिक और आर्थिक सुधार
5. अंततः ब्रिटिश भारत के साथ एकीकरण और स्वतंत्र भारत का निर्माण

देशी राज्यों में प्रजा मंडल आंदोलन

1927 में बॉम्बे में अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद (All India States People's Conference) की स्थापना हुई, जिसे बाद में प्रजा मंडल के नाम से जाना गया। इसका उद्देश्य देशी राज्यों में चल रहे आंदोलनों को एकजुट करना और उन्हें समन्वित करना था। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' इसके प्रथम अध्यक्ष थे। 1939 में जवाहरलाल नेहरू प्रजा मंडल के अध्यक्ष बने और उन्होंने देशी राज्यों में राष्ट्रीय आंदोलन को मजबूत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। प्रजा मंडल के नेतृत्व में देशी राज्यों में जनतांत्रिक अधिकारों और उत्तरदायी सरकार की मांग को लेकर आंदोलन चलाए गए।

विभिन्न देशी राज्यों में प्रजा मंडल या इसी प्रकार के संगठन स्थापित किए गए, जैसे:

1. **कश्मीर प्रजा मंडल:** शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व में कश्मीर में डोगरा शासन के विरुद्ध संघर्ष किया।
2. **हैदराबाद स्टेट कांग्रेस:** स्वामी रामानंद तीर्थ के नेतृत्व में निजाम के निरंकुश शासन के विरुद्ध और हैदराबाद के भारत में विलय के लिए संघर्ष किया।
3. **त्रावणकोर स्टेट कांग्रेस:** पट्टम थानु पिल्लई के नेतृत्व में त्रावणकोर में उत्तरदायी सरकार की मांग की।
4. **मैसूर प्रजा परिषद:** के.सी. रेड्डी के नेतृत्व में मैसूर में जनतांत्रिक अधिकारों के लिए संघर्ष किया।
5. **जयपुर प्रजा मंडल:** कपूरचंद पटनी के नेतृत्व में जयपुर में राजनीतिक सुधारों की मांग की।

प्रमुख देशी राज्यों में आंदोलन

1. कश्मीर



कश्मीर में महाराजा हरि सिंह के शासन के विरुद्ध 1931 में एक बड़ा आंदोलन शुरू हुआ। 13 जुलाई 1931 को श्रीनगर में पुलिस की गोलीबारी में 21 प्रदर्शनकारी मारे गए, जिससे आंदोलन और तेज हो गया। शेख अब्दुल्ला ने 1932 में ऑल जम्मू एंड कश्मीर मुस्लिम कॉन्फ्रेंस की स्थापना की, जो बाद में 1939 में नेशनल कॉन्फ्रेंस बन गई। उन्होंने "नया कश्मीर" कार्यक्रम के तहत सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सुधारों की मांग की।

2. हैदराबाद

हैदराबाद में निजाम ओसमान अली खान के निरंकुश शासन के विरुद्ध 1938 में हैदराबाद स्टेट कांग्रेस की स्थापना हुई। निजाम ने इसे प्रतिबंधित कर दिया, लेकिन आंदोलन भूमिगत तरीके से जारी रहा। स्वामी रामानंद तीर्थ, बूरुला रामकृष्ण राव और ज्ञानानंद के नेतृत्व में हैदराबाद में सत्याग्रह आंदोलन चलाया गया। 1947 में, जब भारत स्वतंत्र हुआ, निजाम ने भारत में विलय से इनकार कर दिया और स्वतंत्र रहने की घोषणा की। इसके विरोध में हैदराबाद स्टेट कांग्रेस ने आंदोलन तेज कर दिया और राज्य के विभिन्न हिस्सों में "जनता सरकार" स्थापित की। रज़ाकार नामक एक मुस्लिम अर्धसैनिक संगठन ने हिंदुओं पर अत्याचार किए, जिससे स्थिति और बिगड़ गई। अंततः सितंबर 1948 में भारत सरकार ने "ऑपरेशन पोलो" के तहत सैनिक कार्रवाई की और हैदराबाद का भारत में विलय हुआ।

3. त्रावणकोर

त्रावणकोर में, महाराजा चित्तिरा तिरुनाल के दीवान सी.पी. रामास्वामी अय्यर ने 1946 में "स्वतंत्र त्रावणकोर" की घोषणा की और भारत में विलय से इनकार कर दिया। त्रावणकोर स्टेट कांग्रेस ने इसका विरोध किया और "आजादी या मृत्यु" के नारे के साथ आंदोलन चलाया। पट्टम थानु पिल्लई के नेतृत्व में पुन्नप्रा-वयलार में एक बड़ा आंदोलन हुआ, जिसे सी.पी. रामास्वामी अय्यर ने कठोरता से दबाया। हालांकि, अंततः जुलाई 1947 में सी.पी. रामास्वामी अय्यर पर एक हमले के बाद उन्होंने इस्तीफा दे दिया और त्रावणकोर ने भारत में विलय किया।

4. जूनागढ़

जूनागढ़ के नवाब ने अगस्त 1947 में पाकिस्तान में विलय का निर्णय लिया, हालांकि राज्य की 80% जनसंख्या हिंदू थी और राज्य भौगोलिक रूप से भारत के साथ जुड़ा हुआ था। इसके विरोध में "आरजी हकूमत" (अस्थायी सरकार) की स्थापना हुई और जनमत ने राज्य के भारत में विलय का समर्थन किया। अंततः नवंबर 1947 में भारतीय सेना ने जूनागढ़ पर कब्जा कर लिया और फरवरी 1948 में एक जनमत संग्रह में जनता ने भारत में विलय के पक्ष में मतदान किया।

देशी राज्यों के एकीकरण में सरदार पटेल की भूमिका

स्वतंत्र भारत के प्रथम गृह मंत्री सरदार वल्लभभाई पटेल ने देशी राज्यों के भारत में एकीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने वी.पी. मेनन के सहयोग से देशी राज्यों के शासकों को विलय पत्र (Instrument of Accession) पर हस्ताक्षर करने के लिए राजी किया। 15 अगस्त 1947 तक,

कश्मीर, हैदराबाद और जूनागढ़ को छोड़कर लगभग सभी देशी राज्यों ने भारत या पाकिस्तान में विलय कर लिया था। कश्मीर में पाकिस्तानी आक्रमण के बाद अक्टूबर 1947 में महाराजा हरि सिंह ने भारत में विलय किया। जूनागढ़ और हैदराबाद का विलय क्रमशः 1947 और 1948 में हुआ। सरदार पटेल ने 1956 तक देशी राज्यों का पूर्ण एकीकरण कर लिया और उन्हें भारतीय संघ में पूरी तरह से मिला दिया। इस प्रकार उन्होंने "भारत के लौह पुरुष" और "एकता के प्रतीक" के रूप में ख्याति अर्जित की।

देशी राज्यों में राष्ट्रीय आंदोलन का महत्व

देशी राज्यों में राष्ट्रीय आंदोलन ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को पूर्णता प्रदान की और स्वतंत्र भारत के एकीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसके प्रमुख योगदान थे:

1. **राष्ट्रीय एकता:** आंदोलन ने देशी राज्यों और ब्रिटिश भारत के बीच एकता स्थापित की और एक एकीकृत भारत के निर्माण में मदद की।
2. **लोकतांत्रिक मूल्य:** आंदोलन ने देशी राज्यों में लोकतांत्रिक मूल्यों और नागरिक अधिकारों के लिए संघर्ष किया, जिससे स्वतंत्र भारत में लोकतांत्रिक परंपराओं की नींव मजबूत हुई।
3. **सामाजिक सुधार:** आंदोलन ने देशी राज्यों में सामाजिक और आर्थिक सुधारों को प्रोत्साहित किया और वहां के पिछड़ेपन को दूर करने में मदद की।
4. **राजनीतिक जागरूकता:** आंदोलन ने देशी राज्यों के निवासियों में राजनीतिक जागरूकता पैदा की और उन्हें राष्ट्रीय धारा से जोड़ा।
5. **भौगोलिक एकीकरण:** आंदोलन ने भारत के भौगोलिक एकीकरण में मदद की और एक मजबूत, एकीकृत राष्ट्र के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया।

इकाई 18: वेवल योजना और शिमला सम्मेलन

वेवल योजना और शिमला सम्मेलन द्वितीय विश्व युद्ध के अंतिम चरण में भारत के भविष्य के लिए ब्रिटिश सरकार द्वारा किए गए महत्वपूर्ण प्रयास थे। 1943 में लॉर्ड वेवल भारत के वायसराय नियुक्त हुए। इस समय द्वितीय विश्व युद्ध अपने चरम पर था और भारत में राजनीतिक गतिरोध था। कांग्रेस के अधिकांश नेता 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन के बाद से जेल में थे।

1945 में जब युद्ध लगभग समाप्त हो रहा था, ब्रिटिश प्रधानमंत्री विंस्टन चर्चिल की सरकार ने भारत की राजनीतिक समस्या का समाधान निकालने का प्रयास किया। वायसराय लॉर्ड वेवल ने जून 1945 में एक योजना प्रस्तुत की, जिसे "वेवल योजना" के नाम से जाना जाता है।

वेवल योजना के मुख्य प्रावधान थे:

1. वायसराय की कार्यकारिणी परिषद का पुनर्गठन जिसमें युद्ध सदस्य को छोड़कर सभी सदस्य भारतीय होंगे
2. वायसराय और कमांडर-इन-चीफ को छोड़कर कार्यकारिणी परिषद में हिंदुओं और मुसलमानों की संख्या बराबर होगी



3. सदस्यों का चयन प्रमुख राजनीतिक दलों के परामर्श से किया जाएगा
4. वायसराय अपनी विशेष शक्तियों का प्रयोग केवल अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा, संविधान के प्रावधानों को लागू करने और कानून व्यवस्था बनाए रखने के लिए करेंगे
5. इस व्यवस्था के तहत भारतीयों को शासन का अनुभव मिलेगा, जबकि एक नया संविधान तैयार किया जाएगा

योजना की घोषणा के बाद, लॉर्ड वेवल ने कांग्रेस के सभी बंदी नेताओं को रिहा कर दिया और 25 जून 1945 को शिमला में राजनीतिक दलों के नेताओं के साथ एक सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन में कांग्रेस, मुस्लिम लीग और अन्य छोटे दलों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। शिमला सम्मेलन में मुख्य विवाद मुस्लिम प्रतिनिधियों के चयन को लेकर था। मुस्लिम लीग के नेता मोहम्मद अली जिन्ना ने दावा किया कि मुस्लिम लीग मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था है और कार्यकारिणी परिषद में सभी मुस्लिम सदस्यों को मुस्लिम लीग द्वारा नामित किया जाना चाहिए। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि मुस्लिम लीग के प्रतिनिधि केवल मुसलमानों से संबंधित मामलों पर ही बात करेंगे। दूसरी ओर, कांग्रेस ने जिन्ना के इस दावे का विरोध किया और कहा कि वह एक राष्ट्रीय संगठन है जो सभी भारतीयों का प्रतिनिधित्व करती है, चाहे वे किसी भी धर्म के हों। कांग्रेस ने यह भी माना कि वह अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधियों को नामित कर सकती है, जिनमें मुसलमान भी शामिल हैं। इस मतभेद के कारण शिमला सम्मेलन 14 जुलाई 1945 को असफल हो गया। लॉर्ड वेवल ने घोषणा की कि पूर्ण सहमति के अभाव में वह अपनी योजना को आगे नहीं बढ़ा सकते। इस प्रकार, वेवल योजना और शिमला सम्मेलन भारतीय राजनीति में एक और अवसर था जिसे हाथ से जाने दिया गया। शिमला सम्मेलन की विफलता के महत्वपूर्ण परिणाम हुए। इसने हिंदू-मुस्लिम विभाजन को और गहरा कर दिया और यह स्पष्ट हो गया कि जिन्ना और मुस्लिम लीग पाकिस्तान की मांग पर अड़े हुए हैं। इसने पाकिस्तान के निर्माण की संभावना को और मजबूत किया। इसके अलावा, जुलाई 1945 में ब्रिटेन में आम चुनाव हुए जिसमें चर्चिल की कंजर्वेटिव पार्टी हार गई और क्लेमेंट एटली के नेतृत्व में लेबर पार्टी सत्ता में आई, जिसके भारत के प्रति दृष्टिकोण में अधिक उदारता थी। वेवल योजना और शिमला सम्मेलन भारतीय स्वतंत्रता के इतिहास में महत्वपूर्ण कड़ियां हैं। यद्यपि ये प्रयास असफल रहे, लेकिन इन्होंने भारत में राजनीतिक प्रक्रिया को गति दी और अंततः 1947 में भारत की स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त किया।

बहुविकल्पीय प्रश्न (MCQs)

1. **भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना किस वर्ष हुई थी?**
 - a) 1857
 - b) 1875
 - c) 1885
 - d) 1905

2. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के पहले अधिवेशन के अध्यक्ष कौन थे?
 - a) दादाभाई नौरोजी
 - b) सुरेन्द्रनाथ बनर्जी
 - c) डब्ल्यू.सी. बनर्जी
 - d) ए.ओ. ह्यूम
3. निम्नलिखित में से कौन नरमपंथी नेता थे?
 - a) बाल गंगाधर तिलक
 - b) लाला लाजपत राय
 - c) गोपाल कृष्ण गोखले
 - d) अरबिंदो घोष
4. बंगाल का विभाजन किस वर्ष हुआ था?
 - a) 1900
 - b) 1903
 - c) 1905
 - d) 1911
5. बंगाल विभाजन के समय भारत के वायसराय कौन थे?
 - a) लॉर्ड कर्जन
 - b) लॉर्ड मिंटो
 - c) लॉर्ड चेम्सफोर्ड
 - d) लॉर्ड रिपन
6. भारत में क्रांतिकारी आंदोलन की शुरुआत किस घटना से मानी जाती है?
 - a) चापेकर बंधुओं द्वारा रैंड की हत्या
 - b) खुदीराम बोस द्वारा किंग्सफोर्ड पर बम फेंकना
 - c) मदनलाल धींगरा द्वारा कर्जन वायली की हत्या
 - d) भगत सिंह द्वारा सेंट्रल असेंबली में बम फेंकना
7. गदर पार्टी की स्थापना किसने और कहाँ की थी?
 - a) विनायक दामोदर सावरकर, लंदन



- b) लाला हरदयाल, सैन फ्रांसिस्को
 - c) श्यामजी कृष्ण वर्मा, पेरिस
 - d) मदनलाल धींगरा, बर्लिन
8. होमरूल लीग आंदोलन किसने शुरू किया था?
- a) महात्मा गांधी और मोतीलाल नेहरू
 - b) एनी बेसेंट और बाल गंगाधर तिलक
 - c) भगत सिंह और सुभाष चंद्र बोस
 - d) मोहम्मद अली जिन्ना और एम.ए. जिन्ना
9. लखनऊ समझौता किस वर्ष हुआ था?
- a) 1905
 - b) 1910
 - c) 1916
 - d) 1919
10. मुस्लिम लीग की स्थापना कब हुई थी?
- a) 1885
 - b) 1905
 - c) 1906
 - d) 1916

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय राष्ट्रवाद के उदय के प्रमुख कारणों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
2. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में किन उद्देश्यों की घोषणा की गई थी?
3. नरमपंथियों और गरमपंथियों के बीच मुख्य मतभेद क्या थे?
4. बंगाल विभाजन के क्या कारण थे और इसने भारतीय राष्ट्रवाद को किस प्रकार प्रभावित किया?
5. स्वदेशी आंदोलन क्या था? इसके प्रमुख परिणामों का उल्लेख कीजिए।
6. भारत के प्रमुख क्रांतिकारी संगठनों के नाम और उनके योगदान का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
7. विदेशों में स्थापित क्रांतिकारी संगठनों की गतिविधियों का संक्षिप्त विवरण दीजिए।
8. साम्प्रदायिकता के उदय के प्रमुख कारणों की व्याख्या कीजिए।
9. लखनऊ समझौते की प्रमुख विशेषताएँ क्या थीं? इसके महत्व पर प्रकाश डालिए।

10. होमरूल लीग आंदोलन के उद्देश्य और प्रभाव का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय राष्ट्रवाद के उदय के कारणों का विस्तृत विश्लेषण कीजिए। राष्ट्रवाद के विकास में ब्रिटिश शासन की भूमिका पर प्रकाश डालिए।
2. "भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना ब्रिटिश सरकार के हितों की रक्षा के लिए की गई थी।" इस कथन का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
3. नरमपंथी राष्ट्रवाद की विचारधारा, कार्यपद्धति और योगदान का विस्तृत मूल्यांकन कीजिए। क्या नरमपंथियों की नीतियाँ असफल रही? तर्क सहित उत्तर दीजिए।
4. उग्रवादी आंदोलन के उदय के कारणों का विश्लेषण कीजिए। लाला लाजपत राय, बाल गंगाधर तिलक और बिपिन चंद्र पाल के विचारों और योगदान पर प्रकाश डालिए।
5. बंगाल विभाजन के कारणों, प्रभावों और परिणामों का विस्तृत विवेचन कीजिए। स्वदेशी आंदोलन की रणनीतियों और उपलब्धियों का मूल्यांकन कीजिए।
6. भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन के विकास का विस्तृत विवरण प्रस्तुत कीजिए। क्रांतिकारी आंदोलन की सीमाओं और योगदान का मूल्यांकन कीजिए।
7. विदेशों में भारतीय क्रांतिकारियों की गतिविधियों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत कीजिए। गदर पार्टी, इंडिया हाउस और बर्लिन समिति के योगदान पर प्रकाश डालिए।
8. भारत में साम्प्रदायिकता के उदय और विकास के कारणों का विश्लेषण कीजिए। क्या साम्प्रदायिकता के विकास में ब्रिटिश नीतियाँ उत्तरदायी थीं? तर्क सहित उत्तर दीजिए।
9. लखनऊ समझौते की पृष्ठभूमि, प्रावधानों और परिणामों का विस्तृत विवेचन कीजिए। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में इसके महत्व का मूल्यांकन कीजिए।
10. होमरूल लीग आंदोलन की पृष्ठभूमि, उद्देश्यों और प्रभावों का विस्तार से वर्णन कीजिए। भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में इसके योगदान का मूल्यांकन कीजिए।



मॉड्यूल 3

राष्ट्रीय आन्दोलन का अन्तिम चरण

उद्देश्य

1. 1945-47 के जन-आंदोलनों का विश्लेषण करना।
2. 1945-47 के बीच राजनीतिक गतिविधियों और घटनाओं का अध्ययन करना।
3. राष्ट्रीय आंदोलन में समाजवादी विचारधारा की भूमिका को समझना।
4. देश के विभाजन के कारणों और उसके परिणामों का मूल्यांकन करना।
5. स्वतंत्र भारत के सामने आने वाली चुनौतियों का अध्ययन करना।

इकाई 19: 1945-47 के जन-आन्दोलन

द्वितीय विश्व युद्ध के अंतिम चरण से लेकर भारत की स्वतंत्रता तक का समय भारतीय इतिहास का एक अत्यंत महत्वपूर्ण काल था। 1945 से 1947 के मध्य भारत में अनेक जन-आन्दोलन हुए, जिन्होंने न केवल भारत की स्वतंत्रता को निकट लाया बल्कि देश के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिदृश्य को भी गहराई से प्रभावित किया। इस अध्याय में हम इन जन-आन्दोलनों का विस्तृत विश्लेषण करेंगे, उनके कारणों, प्रकृति, नेतृत्व, और परिणामों पर गहन दृष्टि डालेंगे, साथ ही इन आन्दोलनों के दौरान जनता की भूमिका और अनुभवों को भी समझेंगे। युद्ध के अंतिम वर्षों में विभिन्न कारकों ने भारतीय जनमानस को आन्दोलित किया था। युद्धकालीन महंगाई, खाद्य संकट, नौसेना विद्रोह, आजाद हिन्द फौज के प्रति जनसमर्थन, कैबिनेट मिशन, और अंततः देश के विभाजन की त्रासदी - इन सभी घटनाओं ने देश के राजनीतिक और सामाजिक वातावरण को गतिशील बनाए रखा। इस काल में भारतीय जनता ने न केवल औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध बल्कि सामाजिक-आर्थिक न्याय की मांग के लिए भी अपनी आवाज बुलंद की।

द्वितीय विश्व युद्ध का प्रभाव और परिस्थितियाँ

द्वितीय विश्व युद्ध ने भारत के सामाजिक-आर्थिक ढांचे को बुरी तरह प्रभावित किया था। युद्ध के दौरान ब्रिटिश सरकार ने भारत के संसाधनों का अत्यधिक दोहन किया, जिससे देश में भीषण महंगाई, खाद्यान्न की कमी और बंगाल में अकाल जैसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं। 1943 के बंगाल अकाल में लगभग तीन मिलियन लोगों की मृत्यु हुई, जो कि औपनिवेशिक प्रशासन की कुप्रबंधन और उदासीनता का प्रत्यक्ष परिणाम था। इस अकाल ने न केवल बंगाल बल्कि पूरे देश में ब्रिटिश शासन के प्रति जनता के गुस्से और आक्रोश को बढ़ावा दिया। युद्ध के दौरान औद्योगिक क्षेत्र में भी असंतोष बढ़ रहा था। युद्ध के कारण उद्योगों में लाभ बढ़ने के बावजूद मजदूरों के वेतन में कोई वृद्धि नहीं हुई, बल्कि महंगाई के कारण उनकी वास्तविक आय में कमी आई। इससे शहरी श्रमिक वर्ग में असंतोष बढ़ा और कई बड़े औद्योगिक केंद्रों में हड़ताल और प्रदर्शन हुए। युद्धकालीन आर्थिक प्रभावों ने किसानों, मजदूरों और मध्यम वर्ग सभी को प्रभावित किया, जिससे एक व्यापक

असंतोष का माहौल बना। युद्ध के अंत के साथ ही, भारतीय सैनिकों और अफसरों में भी असंतोष बढ़ रहा था। इसका एक बड़ा कारण आजाद हिन्द फौज के साथ ब्रिटिश सरकार का व्यवहार था। नेताजी सुभाष चंद्र बोस के नेतृत्व में जापान की सहायता से गठित इस सेना के अनेक सैनिकों को युद्ध के बाद गिरफ्तार कर लिया गया और उन पर राजद्रोह के आरोप लगाए गए। इन मुकदमों ने देशभर में जबरदस्त प्रतिक्रिया उत्पन्न की और स्वाधीनता संग्राम को नई ऊर्जा प्रदान की।

आजाद हिन्द फौज के मुकदमे और जन-प्रतिक्रिया

नवंबर 1945 में दिल्ली के लाल किले में आजाद हिन्द फौज के अधिकारियों - शाहनवाज खान, प्रेम सहगल और गुरबक्श सिंह ढिल्लों पर मुकदमा चलाया गया। यह मुकदमा ब्रिटिश सरकार द्वारा एक सुनियोजित प्रदर्शन के रूप में शुरू किया गया था, लेकिन यह उनके लिए बूमरैंग साबित हुआ। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने इन अधिकारियों के बचाव के लिए जवाहरलाल नेहरू, भूलाभाई देसाई और टेक चंद जैसे प्रतिष्ठित वकीलों को नियुक्त किया। इस मुकदमे ने पूरे देश का ध्यान आकर्षित किया और आजाद हिन्द फौज के सैनिकों को राष्ट्रीय नायक के रूप में प्रतिष्ठित किया। मुकदमे के दौरान, देश के विभिन्न भागों में विशाल प्रदर्शन और रैलियां आयोजित की गईं। हजारों लोग दिल्ली आए और लाल किले के बाहर धरना देने लगे। विद्यार्थियों, महिलाओं, मजदूरों, और विभिन्न वर्गों के लोगों ने इन प्रदर्शनों में भाग लिया। यह पहली बार था जब हिंदू, मुस्लिम और सिख तीनों समुदाय एकजुट होकर इन अधिकारियों के समर्थन में सड़कों पर उतरे। इससे न केवल ब्रिटिश सरकार को आश्चर्य हुआ बल्कि भारतीय राजनीतिक नेतृत्व को भी जनता के इस उभार ने प्रभावित किया। आजाद हिन्द फौज मुकदमों का एक महत्वपूर्ण प्रभाव भारतीय सेना पर भी पड़ा। अब तक ब्रिटिश राज का मुख्य आधार रही भारतीय सेना में भी असंतोष की लहर दौड़ने लगी। सैनिकों के मन में अपने साथी सैनिकों के साथ हो रहे व्यवहार को लेकर आक्रोश था। इस असंतोष ने आगे चलकर नौसेना विद्रोह जैसे महत्वपूर्ण घटनाक्रम का मार्ग प्रशस्त किया। इन मुकदमों ने ब्रिटिश शासन की नैतिक स्थिति को कमजोर किया और भारतीयों को यह दिखाया कि स्वतंत्रता संग्राम अब अंतिम चरण में प्रवेश कर चुका है। इस घटना ने स्वतंत्रता संग्राम में एक नए उत्साह और जोश का संचार किया। विशेष रूप से युवाओं में यह भावना प्रबल हुई कि अब स्वतंत्रता का समय निकट है।

नौसेना विद्रोह - 1946

फरवरी 1946 में हुआ भारतीय नौसेना विद्रोह स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास का एक महत्वपूर्ण मोड़ था। यह विद्रोह 18 फरवरी को बॉम्बे (वर्तमान मुंबई) के HMIS तलवार जहाज पर शुरू हुआ और जल्द ही कराची, कोलकाता, चेन्नई और विशाखापट्टनम तक फैल गया। कुल मिलाकर 78 जहाजों, 20 तटीय प्रतिष्ठानों और लगभग 20,000 नौसैनिकों ने इस विद्रोह में भाग लिया। यह विद्रोह मूल रूप से खराब भोजन, नस्लीय भेदभाव और अनुशासनहीनता के आरोपों के कारण शुरू हुआ था,



लेकिन जल्द ही इसने राजनीतिक रूप ले लिया और "जय हिन्द" और "इंकलाब जिंदाबाद" के नारे लगने लगे। विद्रोही नौसैनिकों का मुख्य नारा था - "हम एक हैं" जिसने समकालीन सांप्रदायिक तनावों के बीच एकता का संदेश दिया। उन्होंने बॉम्बे में कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों के नेताओं से समर्थन मांगा, लेकिन उन्हें मिश्रित प्रतिक्रिया मिली। जवाहरलाल नेहरू और सरदार पटेल ने विद्रोह को समाप्त करने का आह्वान किया, जबकि कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया ने इसका पूर्ण समर्थन किया। नौसेना विद्रोह का बॉम्बे के औद्योगिक मजदूरों द्वारा व्यापक समर्थन किया गया। 22 फरवरी को बॉम्बे में हड़ताल की गई, जिसमें कपड़ा मिल के मजदूरों, रेलवे कर्मचारियों, डाक विभाग के कर्मचारियों और विद्यार्थियों ने भाग लिया। इस हड़ताल के दौरान पुलिस और प्रदर्शनकारियों के बीच झड़पें हुईं, जिनमें 228 लोग घायल हुए और 15 की मृत्यु हो गई। अंततः, 23 फरवरी को विद्रोह समाप्त हो गया, जब विद्रोही नौसैनिकों ने आत्मसमर्पण कर दिया। हालांकि, इस विद्रोह ने ब्रिटिश सरकार को एक स्पष्ट संदेश दे दिया था कि अब भारतीय सशस्त्र बलों पर भरोसा नहीं किया जा सकता। भारतीय सेना और नौसेना में बढ़ते असंतोष ने ब्रिटिश प्रशासन के स्तंभों को हिला दिया और स्पष्ट कर दिया कि अब भारत में ब्रिटिश राज का अंत निकट है। नौसेना विद्रोह ने ब्रिटिश सरकार को यह भी दिखाया कि भारत में उनकी स्थिति तेजी से कमजोर हो रही है और भारतीय जनता के साथ-साथ अब सशस्त्र बलों में भी स्वतंत्रता की लहर तेज हो चुकी है। इसके कुछ ही महीनों बाद ब्रिटिश प्रधानमंत्री क्लेमेंट एटली ने कैबिनेट मिशन को भारत भेजने का निर्णय लिया, जो भारत की स्वतंत्रता की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था।

औद्योगिक श्रमिकों के आन्दोलन

1945-47 के काल में औद्योगिक श्रमिकों के आन्दोलन भी जोर पकड़ रहे थे। युद्ध के दौरान उद्योगपतियों ने अत्यधिक मुनाफा कमाया था, लेकिन मजदूरों की मजदूरी में कोई खास वृद्धि नहीं हुई थी। इसके विपरीत, महंगाई के कारण उनकी वास्तविक आय में कमी आई थी। इससे श्रमिकों में असंतोष बढ़ा और बड़े पैमाने पर हड़तालें हुईं। 1945-46 में बॉम्बे, कलकत्ता, कानपुर, अहमदाबाद और मद्रास के कपड़ा मिलों में बड़ी हड़तालें हुईं। बॉम्बे की कपड़ा मिलों में 1946 में जुलाई से सितंबर तक चली हड़ताल में लगभग दो लाख मजदूरों ने भाग लिया। इस हड़ताल ने महाराष्ट्र के औद्योगिक क्षेत्र को पूरी तरह से ठप कर दिया था। कलकत्ता में भी रेलवे, बंदरगाह, और अन्य उद्योगों में हड़तालें हुईं। 29 जुलाई, 1946 को ऑल इंडिया पोस्टल एंड RMS वर्कर्स यूनियन ने अखिल भारतीय हड़ताल की, जिसमें लगभग 75,000 डाक कर्मचारियों ने भाग लिया। इस हड़ताल ने पूरे देश के डाक विभाग को प्रभावित किया और 25 दिनों तक चली। इन श्रमिक आन्दोलनों में कम्युनिस्ट पार्टी और ट्रेड यूनियनों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। उन्होंने मजदूरों को संगठित किया और उनकी मांगों को मुखर किया। वेतन वृद्धि, काम के घंटों में कमी, सामाजिक सुरक्षा, और बेहतर काम करने की परिस्थितियां मुख्य मांगों में शामिल थीं। इन आन्दोलनों का

महत्वपूर्ण पहलू यह था कि इनमें राष्ट्रीय स्वतंत्रता की मांग भी प्रमुखता से उठी। मजदूरों ने आर्थिक मांगों के साथ-साथ राजनीतिक मांगें भी रखीं और स्वतंत्रता संग्राम के साथ अपनी एकजुटता दिखाई। इससे स्वतंत्रता आन्दोलन का आधार व्यापक हुआ और इसे श्रमिक वर्ग का समर्थन मिला। ये आन्दोलन स्वतंत्रता के पश्चात के भारत के लिए एक महत्वपूर्ण संदेश लेकर आए। इन्होंने यह स्पष्ट किया कि नए भारत में सामाजिक-आर्थिक न्याय एक प्रमुख मुद्दा होगा और मजदूर वर्ग की आवाज को अनदेखा नहीं किया जा सकता। इस प्रकार, ये आन्दोलन न केवल ब्रिटिश शासन के विरुद्ध थे बल्कि भविष्य के भारत के लिए एक समावेशी विकास की मांग भी कर रहे थे।

किसान आन्दोलन और तेभागा संघर्ष

1945-47 का काल किसान आन्दोलनों के उभार का भी साक्षी रहा। इस समय बंगाल में तेभागा आन्दोलन, तेलंगाना में किसान संघर्ष, और पुणे, सतारा में किसानों के विद्रोह हुए। ये आन्दोलन जमींदारी प्रथा, लगान की ऊंची दरों, और शोषणकारी व्यवस्था के विरुद्ध थे। बंगाल का तेभागा आन्दोलन **1946** में शुरू हुआ। इसका नेतृत्व कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं ने किया था। 'तेभागा' का अर्थ था तीन हिस्से - किसानों की मांग थी कि उपज का एक-तिहाई हिस्सा उन्हें मिलना चाहिए, न कि केवल एक-चौथाई जैसा कि परंपरागत व्यवस्था थी। यह आन्दोलन उत्तरी बंगाल के दिनाजपुर, रंगपुर, और जलपाईगुड़ी जिलों में विशेष रूप से सक्रिय था। तेभागा आन्दोलन में आदिवासी और मुस्लिम किसानों की बड़ी भागीदारी थी। इसकी विशेषता थी कि इसमें धार्मिक या सांप्रदायिक विभाजन नहीं था, बल्कि सामाजिक-आर्थिक मुद्दों पर एकजुटता थी। आन्दोलन के दौरान किसानों ने जमींदारों के अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाई और कई स्थानों पर फसल काटने के बाद उपज को जमींदारों के गोदामों में जमा करने से इनकार कर दिया। पुलिस और जमींदारों द्वारा दमन के बावजूद, आन्दोलन फैलता गया। सरकार ने कई किसान नेताओं को गिरफ्तार किया और आन्दोलन को कुचलने का प्रयास किया। हालांकि, आन्दोलन ने बंगाल के ग्रामीण क्षेत्रों में एक नया राजनीतिक जागरण लाया और किसानों को अपने अधिकारों के प्रति सचेत किया।

इसी समय, दक्षिण भारत के तेलंगाना क्षेत्र में भी एक व्यापक किसान आन्दोलन चल रहा था। यह आन्दोलन हैदराबाद रियासत के निजाम और देशमुखों-जागीरदारों के शोषण के विरुद्ध था। कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में चले इस आन्दोलन ने बेगार (बिना मजदूरी के श्रम), अत्यधिक लगान, और भूमि के पुनर्वितरण जैसे मुद्दों को उठाया। आन्दोलन ने **3,000** से अधिक गांवों को प्रभावित किया और लगभग एक लाख एकड़ भूमि का पुनर्वितरण किया गया। पुणे और सतारा में प्रतिसरकार आन्दोलन भी इसी काल में हुआ। नाना पाटिल के नेतृत्व में किसानों ने कई स्थानों पर स्थानीय प्रशासन को अपने हाथों में ले लिया और समानांतर सरकारें स्थापित कीं। ये समानांतर सरकारें ग्रामीण स्तर पर न्याय प्रदान करने, जमींदारों के अत्याचारों को रोकने, और किसानों के हितों की रक्षा करने का काम करती थीं। इन किसान आन्दोलनों का महत्वपूर्ण प्रभाव यह था कि



इन्होंने स्वतंत्रता संग्राम को ग्रामीण क्षेत्रों तक विस्तारित किया और इसे एक जन-आधारित आन्दोलन बनाया। ये आन्दोलन यह भी दर्शाते हैं कि स्वतंत्रता की लड़ाई केवल राजनीतिक आजादी के लिए नहीं थी, बल्कि आर्थिक न्याय और सामाजिक समानता के लिए भी थी।

विद्यार्थी आन्दोलन

1945-47 का काल विद्यार्थी आन्दोलनों की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण था। इस समय देश के विभिन्न हिस्सों में विद्यार्थी राजनीतिक और सामाजिक मुद्दों पर सक्रिय हो रहे थे और स्वतंत्रता संग्राम में सक्रिय भूमिका निभा रहे थे। आजाद हिन्द फौज के मुकदमों के समय विद्यार्थियों ने बड़े पैमाने पर प्रदर्शन किए और इन मुकदमों के विरोध में आंदोलन का हिस्सा बने। दिल्ली, कलकत्ता, बॉम्बे, लाहौर और अन्य शहरों में विद्यार्थियों ने रैलियां निकालीं और धरने दिए। इन प्रदर्शनों में विद्यार्थियों के साथ कई बार पुलिस की झड़पें भी हुईं। नौसेना विद्रोह के समय भी विद्यार्थियों ने विद्रोही नौसैनिकों के समर्थन में प्रदर्शन किए और उनके साथ एकजुटता दिखाई। बॉम्बे में कॉलेजों के विद्यार्थियों ने हड़ताल की और नौसैनिकों के समर्थन में रैलियां निकालीं। इन प्रदर्शनों के दौरान कई विद्यार्थी पुलिस की गोलियों का शिकार हुए। इस काल में ऑल इंडिया स्टूडेंट्स फेडरेशन (AISF) और स्टूडेंट्स फेडरेशन ऑफ इंडिया (SFI) जैसे विद्यार्थी संगठन सक्रिय थे। इन संगठनों ने न केवल राजनीतिक मुद्दों पर बल्कि शिक्षा संबंधी समस्याओं, विश्वविद्यालयों में स्वायत्तता, और छात्र अधिकारों के मुद्दों पर भी आवाज उठाई। कलकत्ता में फरवरी **1946** में हुए दंगों के दौरान भी विद्यार्थी सक्रिय रहे। कुछ विद्यार्थियों ने सांप्रदायिक सद्भाव बनाए रखने के लिए काम किया, जबकि कुछ सांप्रदायिक उन्माद का शिकार हो गए। इस समय विद्यार्थियों में राजनीतिक विचारधाराओं का भी प्रभाव बढ़ रहा था - कांग्रेस, मुस्लिम लीग, और कम्युनिस्ट पार्टी की विद्यार्थी शाखाएं बड़े पैमाने पर सक्रिय थीं। विद्यार्थी आन्दोलनों की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इन्होंने युवाओं को राजनीतिक रूप से जागरूक बनाया और उन्हें स्वतंत्रता संग्राम से जोड़ा। इसके अलावा, विद्यार्थियों ने आजादी के बाद के भारत के लिए नई सोच और दृष्टिकोण प्रस्तुत किए, जिनमें सामाजिक न्याय, आर्थिक समानता, और धर्मनिरपेक्षता के मूल्य शामिल थे। छात्र आंदोलनों ने आजादी के आंदोलन को एक नई ऊर्जा और गतिशीलता प्रदान की। युवा पीढ़ी अब पुरानी परंपराओं और रूढ़िवादी विचारों से मुक्त होकर एक नए और आध

इकाई 20: 1945-47 के बीच राजनीतिक गतिविधियां

भारत के स्वतंत्रता संग्राम का अंतिम और निर्णायक चरण **1945-47** के बीच का काल था। द्वितीय विश्व युद्ध के समापन के बाद भारतीय राजनीति में तेज़ी से बदलाव आए और स्वतंत्रता प्राप्ति की प्रक्रिया गति पकड़ने लगी। इस अवधि में कई महत्वपूर्ण राजनीतिक घटनाएँ घटीं जिन्होंने भारत के भविष्य को आकार दिया। युद्ध की समाप्ति के बाद ब्रिटिश साम्राज्य की आर्थिक और राजनैतिक स्थिति कमज़ोर हो चुकी थी, जिसके परिणामस्वरूप भारत छोड़ने की उनकी इच्छा और मजबूत

हुई। इसी समय भारतीय जनता की स्वतंत्रता के लिए माँग और उग्र होती जा रही थी। राष्ट्रीय आंदोलन अब अपने चरम पर था और सभी प्रमुख राजनीतिक दल - कांग्रेस, मुस्लिम लीग और अन्य - अपनी-अपनी रणनीतियों के साथ आगे बढ़ रहे थे। इस अवधि में भारतीय राजनीति दो प्रमुख धाराओं में विभाजित थी - एक ओर स्वतंत्र और अखंड भारत की माँग करने वाले थे, जिनका नेतृत्व मुख्य रूप से कांग्रेस कर रही थी, और दूसरी ओर मुस्लिम लीग थी जिसने पृथक मुस्लिम राष्ट्र की माँग तेज़ कर दी थी। इन दो विचारधाराओं के बीच संघर्ष और समझौते की कोशिशें इस काल के प्रमुख राजनीतिक पहलू थे। इस दौरान आए कैबिनेट मिशन, सीधी कार्रवाई दिवस, अंतरिम सरकार का गठन, माउंटबेटन योजना और अंततः विभाजन ने भारतीय इतिहास की दिशा को निर्धारित किया। इस अवधि को समझने के लिए हमें द्वितीय विश्व युद्ध के अंत के बाद की परिस्थितियों को देखना होगा। युद्ध ने ब्रिटिश अर्थव्यवस्था को बुरी तरह प्रभावित किया था और उनकी साम्राज्यवादी शक्ति का पतन हो चुका था। वैश्विक स्तर पर साम्राज्यवादी व्यवस्था कमज़ोर पड़ रही थी और उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन जोर पकड़ रहे थे। ब्रिटेन में 1945 के आम चुनावों में लेबर पार्टी की जीत हुई और क्लेमेंट एटली प्रधानमंत्री बने, जिन्होंने भारत के प्रति ब्रिटिश नीति में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन किए। नई सरकार भारत को स्वतंत्रता देने के विचार के प्रति अधिक सकारात्मक थी, लेकिन साथ ही वह सत्ता का हस्तांतरण अपने हित में सुनिश्चित करना चाहती थी।

भारत में, युद्ध के दौरान राष्ट्रीय आंदोलन की गति कुछ धीमी हुई थी, लेकिन 1945 में यह फिर से तेज़ी से उभरा। अगस्त 1945 में, जब जापान ने आत्मसमर्पण किया और द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त हुआ, तब भारतीय राजनीति में नई ऊर्जा का संचार हुआ। युद्ध के दौरान अंग्रेज़ों ने भारतीयों से युद्ध में सहयोग के बदले स्वतंत्रता देने का वादा किया था, और अब भारतीय नेता इस वादे को पूरा करवाने के लिए दबाव बना रहे थे। कांग्रेस और अन्य राष्ट्रवादी संगठन अब अधिक मुखर होकर स्वतंत्रता की माँग कर रहे थे। इस समय कांग्रेस के भीतर भी विचारधारात्मक मतभेद थे। एक ओर गांधीजी थे जो अहिंसात्मक तरीकों पर जोर दे रहे थे, वहीं सुभाष चंद्र बोस जैसे क्रांतिकारी नेता थे जिन्होंने आज़ाद हिंद फौज के माध्यम से सशस्त्र संघर्ष का रास्ता अपनाया था। हालांकि 1945 में सुभाष चंद्र बोस की मृत्यु की खबर फैली, लेकिन उनकी विरासत और आज़ाद हिंद फौज का प्रभाव बना रहा। आज़ाद हिंद फौज के अधिकारियों पर चलाए गए मुकदमों ने पूरे देश में राष्ट्रवादी भावनाओं को उभारा और ब्रिटिश सरकार पर दबाव बढ़ाया। जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल और मौलाना आज़ाद जैसे कांग्रेसी नेता अब स्पष्ट रूप से पूर्ण स्वराज की माँग कर रहे थे। दूसरी ओर, मुहम्मद अली जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिम लीग पाकिस्तान की माँग पर अड़ी हुई थी। 1940 के लाहौर प्रस्ताव में ही मुस्लिम लीग ने द्विराष्ट्र सिद्धांत के आधार पर अलग मुस्लिम राज्य की माँग की थी, और 1945-46 तक आते-आते यह माँग और मज़बूत हो गई थी। वामेल आंदोलन और रॉयल इंडियन नेवी का विद्रोह इस अवधि की महत्वपूर्ण घटनाएँ थीं जिन्होंने ब्रिटिश सरकार को

भारत छोड़ने के लिए प्रभावित किया। फरवरी 1946 में रॉयल इंडियन नेवी (भारतीय नौसेना) के नाविकों ने बॉम्बे (मुंबई) में विद्रोह कर दिया, जो जल्द ही करांची, कलकत्ता और मद्रास तक फैल गया। यह विद्रोह मूल रूप से खराब भोजन और नस्लीय भेदभाव के विरोध में शुरू हुआ था, लेकिन जल्द ही यह राजनीतिक स्वरूप ले गया और नाविकों ने "जय हिंद" और "इंकलाब जिंदाबाद" के नारे लगाए। हालांकि कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों ने विद्रोहियों से हथियार छोड़ने का आग्रह किया, लेकिन इस घटना ने ब्रिटिश सरकार को स्पष्ट संकेत दे दिया कि भारतीय सेना और नौसेना में भी राष्ट्रवादी भावनाएँ प्रबल हो रही थीं।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद भारत में आर्थिक स्थिति भी बहुत खराब थी। मुद्रास्फीति, खाद्यान्न की कमी, बेरोजगारी और भूख से लोग परेशान थे। 1943 के बंगाल अकाल ने लाखों लोगों की जान ली थी, और इसके प्रभाव अभी भी महसूस किए जा रहे थे। इन आर्थिक समस्याओं ने भी राजनीतिक असंतोष को बढ़ाया, और लोग ब्रिटिश शासन से मुक्ति चाहते थे। इन्हीं परिस्थितियों में, 1946 की शुरुआत में, ब्रिटिश प्रधानमंत्री एटली ने घोषणा की कि वे भारत को स्वतंत्रता देने के लिए तैयार हैं और इसके लिए प्रक्रिया शुरू करेंगे। 15 मार्च, 1946 को एटली ने घोषणा की: "ब्रिटिश सरकार का इरादा भारत में सत्ता का हस्तांतरण भारतीय हाथों में करने का है।" इसके बाद उन्होंने तीन ब्रिटिश मंत्रियों - लॉर्ड पैथिक-लॉरेंस, सर स्टैफ़ोर्ड क्रिप्स और ए.वी. अलेक्जेंडर - को भारत भेजा, जिसे 'कैबिनेट मिशन' के नाम से जाना गया। कैबिनेट मिशन मार्च 1946 में भारत पहुँचा और उसने भारतीय नेताओं के साथ व्यापक विचार-विमर्श किया। मिशन का उद्देश्य भारत में सत्ता हस्तांतरण के लिए एक उपयुक्त संवैधानिक ढाँचा तैयार करना और कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के बीच सहमति बनाना था। लगभग तीन महीने के विचार-विमर्श के बाद, 16 मई, 1946 को कैबिनेट मिशन ने अपनी योजना प्रस्तुत की, जिसमें मुख्य रूप से निम्नलिखित प्रस्ताव थे:

1. भारत का विभाजन नहीं किया जाएगा, और एक संघीय व्यवस्था स्थापित की जाएगी जिसमें केंद्र और प्रांतों के बीच शक्तियों का बंटवारा होगा।
2. संघीय व्यवस्था में तीन समूह होंगे - समूह ए में हिंदू बहुल प्रांत होंगे, समूह बी में पंजाब, सिंध, बलूचिस्तान और उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत जैसे मुस्लिम बहुल क्षेत्र होंगे, और समूह सी में बंगाल और असम होंगे।
3. केंद्र सरकार के पास रक्षा, विदेश मामले और संचार जैसे सीमित विषय होंगे, जबकि अन्य शक्तियाँ प्रांतों के पास रहेंगी।
4. संविधान सभा का निर्वाचन होगा जो नए संविधान का निर्माण करेगी।
5. एक अंतरिम सरकार का गठन किया जाएगा जो स्वतंत्रता तक काम करेगी।

कैबिनेट मिशन योजना शुरू में दोनों प्रमुख दलों - कांग्रेस और मुस्लिम लीग - द्वारा स्वीकार कर ली गई, हालांकि दोनों के विचार और व्याख्याएँ अलग-अलग थीं। कांग्रेस ने इसे विभाजन से बचने के एक तरीके के रूप में देखा, जबकि मुस्लिम लीग ने इसे पाकिस्तान की दिशा में एक कदम के

रूप में देखा। लेकिन जल्द ही योजना के कुछ पहलुओं पर विवाद उभरने लगे, विशेष रूप से संविधान सभा के कार्यों और अंतरिम सरकार की संरचना को लेकर। जुलाई 1946 में, कैबिनेट मिशन योजना के अनुसार संविधान सभा के सदस्यों का चुनाव हुआ। अंतरिम सरकार के गठन के बारे में भी बातचीत शुरू हुई, लेकिन इस पर कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच सहमति नहीं बन पाई। वायसराय लॉर्ड वेवेल ने जवाहरलाल नेहरू को अंतरिम सरकार का नेतृत्व करने के लिए आमंत्रित किया, जिससे मुस्लिम लीग नाराज हो गई और उसने अंतरिम सरकार में शामिल होने से इनकार कर दिया। इसके बाद मुस्लिम लीग ने 16 अगस्त, 1946 को 'सीधी कार्रवाई दिवस' (Direct Action Day) मनाने की घोषणा की, जिसका उद्देश्य पाकिस्तान की माँग के समर्थन में जनता को संगठित करना था। जिन्ना ने कहा कि अब मुस्लिम लीग संवैधानिक तरीकों से हटकर "सीधी कार्रवाई" करेगी। यह दिन कलकत्ता (कोलकाता) में भयंकर सांप्रदायिक दंगों में बदल गया, जिसमें हजारों लोग मारे गए और घायल हुए। इसे 'ग्रेट कलकत्ता किलिंग' के नाम से जाना जाता है। इन दंगों की आग जल्द ही बिहार, पूर्वी बंगाल, संयुक्त प्रांत और पंजाब में भी फैल गई, जिससे देश भर में सांप्रदायिक तनाव बढ़ गया। सांप्रदायिक हिंसा के इस माहौल में, 2 सितंबर, 1946 को जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में एक अंतरिम सरकार का गठन किया गया, जिसमें कांग्रेस के प्रतिनिधि शामिल थे, लेकिन मुस्लिम लीग ने इसमें भाग नहीं लिया। हालांकि, अक्टूबर 1946 में मुस्लिम लीग ने अपना निर्णय बदला और अंतरिम सरकार में शामिल हो गई, लेकिन उसका उद्देश्य सरकार के कामकाज में बाधा डालना और पाकिस्तान की माँग को मज़बूत करना था। इस प्रकार अंतरिम सरकार में आंतरिक विरोधाभास था और वह प्रभावी ढंग से काम नहीं कर पा रही थी।

दिसंबर 1946 में संविधान सभा की पहली बैठक हुई, लेकिन मुस्लिम लीग ने इसका बहिष्कार किया। संविधान सभा में डॉ. राजेंद्र प्रसाद को अध्यक्ष चुना गया और संविधान निर्माण का कार्य शुरू हुआ। लेकिन मुस्लिम लीग की अनुपस्थिति ने इसकी वैधता पर सवाल खड़े कर दिए। जनवरी 1947 तक, सांप्रदायिक तनाव और भी बढ़ गया था और देश के विभिन्न हिस्सों में हिंसा की घटनाएँ हो रही थीं। कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच मतभेद और गहरे हो गए थे, और दोनों पक्षों के बीच समझौते की संभावनाएँ कम होती जा रही थीं। इस बिगड़ती परिस्थिति में, ब्रिटिश प्रधानमंत्री एटली ने 20 फरवरी, 1947 को एक महत्वपूर्ण घोषणा की - ब्रिटेन जून 1948 तक भारत छोड़ देगा, चाहे भारतीय नेता आपस में सहमत हों या न हों एटली ने लॉर्ड वेवेल के स्थान पर लॉर्ड माउंटबेटन को भारत का नया वायसराय नियुक्त किया। माउंटबेटन मार्च 1947 में भारत पहुँचे और उन्होंने तुरंत भारतीय नेताओं के साथ बातचीत शुरू की। उन्होंने देखा कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच सहमति बनाना लगभग असंभव था, और सांप्रदायिक हिंसा तेज़ी से बढ़ रही थी। देश के कई हिस्सों में, विशेष रूप से पंजाब और बंगाल में, हिंदू-मुस्लिम दंगे हो रहे थे। ऐसी स्थिति में, माउंटबेटन ने महसूस किया कि भारत का विभाजन अपरिहार्य था और शायद यही



एकमात्र व्यावहारिक समाधान था। अप्रैल और मई 1947 में, माउंटबेटन ने गहन विचार-विमर्श के बाद एक योजना तैयार की, जिसे 'माउंटबेटन योजना' या '3 जून योजना' के नाम से जाना जाता है। इस योजना में निम्नलिखित प्रमुख प्रस्ताव थे:

1. भारत का विभाजन दो स्वतंत्र राज्यों - भारत और पाकिस्तान - में किया जाएगा।
2. पंजाब और बंगाल का भी विभाजन किया जाएगा, जिससे पश्चिमी पंजाब और पूर्वी बंगाल पाकिस्तान का हिस्सा बनेंगे, जबकि पूर्वी पंजाब और पश्चिमी बंगाल भारत के हिस्से होंगे।
3. सिंध, बलूचिस्तान और उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत पाकिस्तान का हिस्सा बनेंगे।
4. असम के सिलहट जिले में जनमत संग्रह होगा कि वह भारत का हिस्सा बने या पाकिस्तान का।
5. नॉर्थ वेस्ट फ्रंटियर प्रोविंस (NWFP) में भी जनमत संग्रह होगा।
6. देशी रियासतों को या तो भारत में शामिल होने या पाकिस्तान में शामिल होने या स्वतंत्र रहने का विकल्प होगा।
7. सत्ता हस्तांतरण की तारीख जून 1948 से घटाकर 15 अगस्त, 1947 कर दी गई।

3 जून, 1947 को माउंटबेटन योजना की आधिकारिक घोषणा की गई, और कांग्रेस, मुस्लिम लीग और सिख प्रतिनिधियों ने इसे स्वीकार कर लिया। हालांकि गांधीजी विभाजन के विरुद्ध थे, लेकिन वे अकेले पड़ गए थे। अन्य कांग्रेस नेताओं, विशेष रूप से नेहरू और पटेल, ने महसूस किया कि विभाजन अपरिहार्य था और बढ़ती हिंसा को रोकने का यही एकमात्र तरीका था। माउंटबेटन योजना के अनुसार, ब्रिटिश संसद ने 'भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम 1947' (Indian Independence Act 1947) पारित किया, जिसमें 15 अगस्त, 1947 को भारत और पाकिस्तान को स्वतंत्रता देने का प्रावधान था। इसके अनुसार, संपूर्ण ब्रिटिश भारत को दो स्वतंत्र राज्यों में विभाजित किया गया - भारतीय संघ और पाकिस्तान डोमिनियन। विभाजन की प्रक्रिया के लिए एक सीमा आयोग का गठन किया गया, जिसका नेतृत्व सर सिरिल रैडक्लिफ ने किया। रैडक्लिफ आयोग को पंजाब और बंगाल की सीमाओं का निर्धारण करना था, जो एक जटिल और विवादास्पद कार्य था। आयोग ने जनसंख्या के धार्मिक संघटन के आधार पर सीमाएँ निर्धारित कीं, लेकिन इससे दोनों पक्षों में असंतोष पैदा हुआ। जैसे-जैसे विभाजन की तारीख नज़दीक आती गई, सांप्रदायिक हिंसा और भी भयावह रूप लेती गई। पंजाब, बंगाल, दिल्ली और अन्य क्षेत्रों में हिंदू, मुस्लिम और सिखों के बीच घातक दंगे हुए, जिनमें लाखों लोग मारे गए और घायल हुए। विभाजन के परिणामस्वरूप, लगभग 1.5 करोड़ लोगों को अपने घर छोड़कर पलायन करना पड़ा - हिंदू और सिख पाकिस्तान से भारत आए, जबकि मुस्लिम भारत से पाकिस्तान गए।

इस बीच, 14-15 अगस्त, 1947 की मध्यरात्रि को, भारत और पाकिस्तान दो स्वतंत्र राष्ट्र बने। दिल्ली में, पंडित जवाहरलाल नेहरू ने स्वतंत्र भारत के पहले प्रधानमंत्री के रूप में पदभार संभाला और संसद में अपना प्रसिद्ध "ट्रिस्ट विद डेस्टिनी" भाषण दिया। करांची में, मुहम्मद अली जिन्ना ने

पाकिस्तान के पहले गवर्नर-जनरल के रूप में शपथ ली। इस प्रकार, **1945-47** की अवधि भारतीय इतिहास का एक निर्णायक कालखंड था, जिसने न केवल उपमहाद्वीप के भविष्य को आकार दिया बल्कि वैश्विक राजनीति को भी प्रभावित किया। यह अवधि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के अंतिम चरण का प्रतिनिधित्व करती है, जिसमें एक ओर स्वतंत्रता की प्राप्ति की खुशी थी, तो दूसरी ओर विभाजन का दर्द भी था। द्वितीय विश्व युद्ध के अंत के साथ ही भारतीय राजनीतिक परिदृश्य में कई महत्वपूर्ण बदलाव आए। आज़ाद हिंद फौज के अधिकारियों पर मुकदमे ने पूरे देश में राष्ट्रवादी भावनाओं को उभारा। शाह नवाज़ खान, प्रेम कुमार सहगल और गुरबख्श सिंह ढिल्लों पर लाल किले में चलाए गए मुकदमे के दौरान, कांग्रेस के प्रमुख नेता जवाहरलाल नेहरू ने स्वयं उनका बचाव किया। इन मुकदमों ने जनता के बीच व्यापक प्रतिरोध पैदा किया और ब्रिटिश सरकार को भारतीय राष्ट्रवादी भावनाओं की शक्ति का अहसास कराया। इस अवधि में भारतीय नौसेना के विद्रोह ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। फरवरी **1946** में, बॉम्बे (मुंबई) में शुरू हुआ यह विद्रोह जल्द ही देश के अन्य नौसैनिक केंद्रों तक फैल गया। प्रारंभ में, यह विद्रोह खराब भोजन और नस्लीय भेदभाव के विरोध में शुरू हुआ था, लेकिन जल्द ही इसने राजनीतिक रूप ले लिया। विद्रोही नाविकों ने भारतीय स्वतंत्रता के समर्थन में नारे लगाए और अपने जहाजों पर राष्ट्रीय ध्वज फहराया। यह विद्रोह ब्रिटिश सरकार के लिए एक गंभीर चिंता का विषय बन गया, क्योंकि यह दर्शाता था कि अब सशस्त्र बलों में भी राष्ट्रवादी विचारधारा प्रवेश कर चुकी थी। हालांकि इस विद्रोह को दबा दिया गया, लेकिन इसने ब्रिटिश सरकार को यह संकेत दे दिया कि अब भारत में उनका शासन लंबे समय तक नहीं चल सकता।

इसी समय, ब्रिटेन में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे। जुलाई **1945** में हुए आम चुनावों में विंस्टन चर्चिल के नेतृत्व वाली कंजर्वेटिव पार्टी को हार का सामना करना पड़ा और क्लेमेंट एटली के नेतृत्व में लेबर पार्टी सत्ता में आई। लेबर पार्टी ने अपने चुनावी घोषणापत्र में भारत सहित उपनिवेशों को स्वशासन देने का वादा किया था। एटली ने भारत के प्रति ब्रिटिश नीति में महत्वपूर्ण बदलाव किए और स्वतंत्रता की प्रक्रिया में तेजी लाई। मार्च **1946** में, एटली सरकार ने कैबिनेट मिशन भारत भेजा, जिसका उद्देश्य भारतीय नेताओं के साथ विचार-विमर्श करके सत्ता हस्तांतरण की प्रक्रिया निर्धारित करना था। कैबिनेट मिशन ने भारतीय नेताओं से व्यापक चर्चा की और विभिन्न समूहों के विचारों को समझने की कोशिश की। इस दौरान, मुस्लिम लीग अपनी पाकिस्तान की माँग पर अड़ी हुई थी, जबकि कांग्रेस एक अखंड भारत चाहती थी। कैबिनेट मिशन ने अपनी योजना में भारत के विभाजन को अस्वीकार किया और एक संघीय ढाँचे का प्रस्ताव रखा, जिसमें केंद्र, प्रांत और प्रांतीय समूह होंगे। इसके अनुसार, केंद्र के पास केवल विदेश मामले, रक्षा और संचार जैसे सीमित विषय होंगे, जबकि शेष अधिकार प्रांतों के पास होंगे। प्रांतों को तीन समूहों में विभाजित किया जाना था - समूह ए में हिंदू बहुल प्रांत, समूह बी में मुस्लिम बहुल उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र, और समूह सी में बंगाल और असम। प्रत्येक समूह अपने क्षेत्र के मामलों में स्वायत्तता का आनंद लेगा। कैबिनेट मिशन



योजना शुरू में दोनों प्रमुख दलों द्वारा स्वीकार कर ली गई, लेकिन जल्द ही इसकी व्याख्या को लेकर विवाद उत्पन्न हो गया। कांग्रेस ने इस योजना को एक एकीकृत भारत के निर्माण के रूप में देखा, जबकि मुस्लिम लीग ने इसे पाकिस्तान की दिशा में एक कदम माना। इस व्याख्यात्मक मतभेद ने योजना के कार्यान्वयन में बाधा डाली। **16 अगस्त, 1946** को मुस्लिम लीग ने 'प्रत्यक्ष कार्रवाई दिवस' (**Direct Action Day**) मनाया, जिसका उद्देश्य पाकिस्तान की माँग के लिए जनसमर्थन जुटाना था। कलकत्ता में इस दिन भयंकर सांप्रदायिक दंगे हुए, जिसमें हजारों लोग मारे गए। यह हिंसा जल्द ही अन्य क्षेत्रों में भी फैल गई, विशेष रूप से पूर्वी बंगाल, बिहार और पंजाब में। सांप्रदायिक तनाव और हिंसा की इस पृष्ठभूमि में, अखंड भारत का विचार धीरे-धीरे अव्यावहारिक होता जा रहा था।

सितंबर **1946** में, जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में एक अंतरिम सरकार का गठन किया गया, लेकिन प्रारंभ में मुस्लिम लीग ने इसमें भाग लेने से इनकार कर दिया। बाद में, अक्टूबर **1946** में, मुस्लिम लीग ने अंतरिम सरकार में शामिल होने का निर्णय लिया, लेकिन उसका उद्देश्य सरकार के कामकाज में बाधा डालना था। अंतरिम सरकार में लियाकत अली खान वित्त मंत्री बने, और उन्होंने बजट के माध्यम से कांग्रेस नेतृत्व को चुनौती दी। इस प्रकार, अंतरिम सरकार में गहरा आंतरिक संघर्ष था और वह प्रभावी ढंग से कार्य नहीं कर पा रही थी। दिसंबर **1946** में संविधान सभा की पहली बैठक हुई, लेकिन मुस्लिम लीग ने इसका बहिष्कार किया, जिससे इसकी वैधता पर सवाल उठे। सांप्रदायिक हिंसा बढ़ती जा रही थी और भारतीय राजनीति में धुवीकरण गहरा होता जा रहा था। इसी समय, ब्रिटिश सरकार ने भारत छोड़ने का निर्णय लिया। **20 फरवरी, 1947** को प्रधानमंत्री एटली ने घोषणा की कि ब्रिटेन जून **1948** तक भारत से चला जाएगा, भले ही भारतीय नेता आपस में सहमत हों या न हों। उन्होंने लॉर्ड माउंटबेटन को भारत का अंतिम वायसराय नियुक्त किया, जिनका काम सत्ता हस्तांतरण की प्रक्रिया को पूरा करना था। मार्च **1947** में भारत पहुँचने के बाद, माउंटबेटन ने भारतीय नेताओं से विस्तृत बातचीत की और स्थिति का जायजा लिया। उन्होंने देखा कि सांप्रदायिक हिंसा तेजी से बढ़ रही थी और कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच सहमति बनाना लगभग असंभव था। इसलिए, उन्होंने भारत के विभाजन की योजना बनाई, जिसे '3 जून योजना' के नाम से जाना जाता है।

इस योजना के अनुसार, भारत को दो स्वतंत्र राज्यों - भारत और पाकिस्तान - में विभाजित किया जाना था। पंजाब और बंगाल का भी विभाजन किया जाना था, और सीमाओं का निर्धारण धार्मिक जनसंख्या के आधार पर किया जाना था। सत्ता हस्तांतरण की तारीख भी जून **1948** से घटाकर **15 अगस्त, 1947** कर दी गई, जिससे विभाजन की प्रक्रिया में तेजी आई। माउंटबेटन योजना के आधार पर, ब्रिटिश संसद ने 'भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम **1947**' पारित किया, जिसके अनुसार **15 अगस्त, 1947** को भारत और पाकिस्तान दो स्वतंत्र राष्ट्र बने। सीमाओं के निर्धारण के लिए सर सिरिल रैडक्लिफ की अध्यक्षता में एक सीमा आयोग गठित किया गया, जिसने पंजाब और बंगाल

की सीमाएँ निर्धारित कीं। विभाजन की प्रक्रिया में भयंकर सांप्रदायिक हिंसा हुई, जिसमें लाखों लोग मारे गए और करोड़ों लोगों को अपने घर छोड़कर पलायन करना पड़ा। हिंदू और सिख पाकिस्तान से भारत आए, जबकि मुस्लिम भारत से पाकिस्तान गए। यह विस्थापन मानवीय त्रासदी का एक भयावह उदाहरण था। देशी रियासतों के विलय की प्रक्रिया भी इसी समय शुरू हुई। सरदार वल्लभभाई पटेल ने रियासतों के विलय का काम संभाला और अधिकांश रियासतों को भारत में शामिल होने के लिए मना लिया। हालांकि, कुछ रियासतों, जैसे जूनागढ़, हैदराबाद और कश्मीर के साथ समस्याएँ उत्पन्न हुईं, जिन्होंने भारत के भविष्य को प्रभावित किया। **14-15 अगस्त, 1947** की मध्यरात्रि को, भारत और पाकिस्तान दो स्वतंत्र राष्ट्र बने। नई दिल्ली में, जवाहरलाल नेहरू ने स्वतंत्र भारत के पहले प्रधानमंत्री के रूप में पदभार संभाला और संसद में अपना प्रसिद्ध "ट्रिस्ट विद डेस्टिनी" भाषण दिया। उन्होंने कहा:

"आधी रात के समय, जब दुनिया सोती है, भारत जीवन और स्वतंत्रता के लिए जागेगा। इतिहास में ऐसे क्षण बहुत कम आते हैं, जब हम पुराने से नए युग में कदम रखते हैं, जब एक युग समाप्त होता है, और जब एक राष्ट्र की लंबे समय से दबी आत्मा अपनी आवाज पाती है। यह हमारे लिए गौरव का क्षण है, जब हम नियति से अपना वादा पूरा करते हैं।"

इसी दिन, करांची में, मुहम्मद अली जिन्ना ने पाकिस्तान के पहले गवर्नर-जनरल के रूप में शपथ ली और नए राष्ट्र का नेतृत्व संभाला। इस प्रकार, दो सदियों से अधिक के ब्रिटिश शासन के बाद, भारतीय उपमहाद्वीप में स्वतंत्रता का सूरज उगा, लेकिन साथ ही विभाजन की त्रासदी भी आई। स्वतंत्रता और विभाजन के साथ ही भारत के सामने कई चुनौतियां थीं - विस्थापितों का पुनर्वास, सांप्रदायिक सद्भाव की स्थापना, आर्थिक विकास, शरणार्थी समस्या, देशी रियासतों का एकीकरण, और नए संविधान का निर्माण। इन चुनौतियों का सामना करते हुए, स्वतंत्र भारत ने अपनी यात्रा शुरू की। **1945-47** की अवधि भारतीय इतिहास के सबसे महत्वपूर्ण कालखंडों में से एक थी, जिसने देश के भविष्य को आकार दिया। यह अवधि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के शीर्ष और अंत का प्रतिनिधित्व करती है, जब भारतीय जनता ने सदियों के विदेशी शासन से मुक्ति पाई। स्वतंत्रता के साथ-साथ विभाजन की त्रासदी ने भारतीय चेतना पर गहरा प्रभाव डाला, जिसके प्रभाव आज भी महसूस किए जाते हैं। भारत की स्वतंत्रता की प्राप्ति एक लंबे और कठिन संघर्ष का परिणाम थी, जिसमें लाखों लोगों ने बलिदान दिया। **15 अगस्त, 1947** को, जब तिरंगा दिल्ली के लाल किले पर फहराया गया, तो यह न केवल भारतीय जनता की जीत थी बल्कि उपनिवेशवाद के विरुद्ध वैश्विक संघर्ष में भी एक महत्वपूर्ण मील का पत्थर था। भारत की स्वतंत्रता ने एशिया और अफ्रीका के अन्य उपनिवेशित देशों को भी प्रेरित किया, जिन्होंने बाद के वर्षों में अपनी स्वतंत्रता प्राप्त की। स्वतंत्रता के बाद, भारत ने एक लोकतांत्रिक गणतंत्र के रूप में अपनी पहचान बनाई और विश्व मंच पर एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। नेहरू के नेतृत्व में, भारत ने गुटनिरपेक्ष आंदोलन की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और विश्व शांति और न्याय के लिए काम किया। हालांकि, विभाजन के



घाव लंबे समय तक हरे रहे और भारत-पाकिस्तान संबंधों को प्रभावित करते रहे। आज, **1945-47** की अवधि को याद करते हुए, हम स्वतंत्रता संग्राम के नायकों और नायिकाओं को श्रद्धांजलि देते हैं, जिन्होंने अपने जीवन का बलिदान दिया ताकि हम स्वतंत्रता का आनंद ले सकें। साथ ही, विभाजन की त्रासदी हमें सांप्रदायिक सन्द्राव और एकता के महत्व की याद दिलाती है।

1947 के बाद के दशकों में, भारत और पाकिस्तान के बीच संबंध तनावपूर्ण रहे और दोनों देश कई युद्धों में उलझे। कश्मीर समस्या, जो विभाजन के समय उत्पन्न हुई थी, आज भी दोनों देशों के बीच एक प्रमुख विवाद का मुद्दा है। हालांकि, समय के साथ, दोनों देशों ने अपने-अपने रास्ते पर विकास किया है और अपनी अलग-अलग पहचान बनाई है। भारत ने स्वतंत्रता के बाद से एक मजबूत लोकतंत्र के रूप में अपनी पहचान बनाई है और आर्थिक, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में महत्वपूर्ण प्रगति की है। हालांकि, सांप्रदायिक सन्द्राव, गरीबी उन्मूलन, सामाजिक न्याय और आर्थिक विकास जैसी चुनौतियां आज भी बनी हुई हैं। **1945-47** की अवधि के अध्ययन से हमें न केवल भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के बारे में जानकारी मिलती है, बल्कि यह हमें सांप्रदायिक सन्द्राव, एकता और राष्ट्रीय एकीकरण के महत्व का भी पाठ सिखाती है। इसके अलावा, यह हमें बताती है कि कैसे राजनीतिक नेतृत्व, कूटनीति और जन आंदोलन एक साथ मिलकर इतिहास की धारा को बदल सकते हैं। **1945-47** के दौरान देश में अन्य महत्वपूर्ण घटनाएँ भी घटीं। ब्रिटिश शासन के अंतिम वर्षों में, अनेक किसान और श्रमिक आंदोलन हुए। तेलंगाना किसान संघर्ष और पुन्नप्रा-वायलार विद्रोह जैसे आंदोलनों ने सामाजिक और आर्थिक न्याय के लिए संघर्ष किया। इन आंदोलनों ने स्वतंत्र भारत के समाजवादी और प्रगतिशील विचारधारा को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस काल में, दलित आंदोलन भी मजबूत हो रहा था। डॉ. भीमराव अंबेडकर के नेतृत्व में, दलित समुदाय ने सामाजिक समानता और न्याय की माँग को मजबूती से उठाया। अंबेडकर ने संविधान सभा में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और स्वतंत्र भारत के संविधान के प्रमुख वास्तुकार बने।

महिलाओं ने भी इस अवधि में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। सरोजिनी नायडू, अरुणा आसफ अली, कमला देवी चट्टोपाध्याय और अन्य महिला नेत्रियों ने स्वतंत्रता संग्राम में सक्रिय भागीदारी की और साथ ही महिलाओं के अधिकारों के लिए भी आवाज उठाई। विभाजन के समय, लगभग **1.5** करोड़ लोगों को अपने घर छोड़कर पलायन करना पड़ा। यह विस्थापन मानव इतिहास के सबसे बड़े पलायनों में से एक था, जिसमें लाखों लोग मारे गए और अनगिनत लोग लापता हो गए। विस्थापितों का पुनर्वास स्वतंत्र भारत के लिए एक बड़ी चुनौती थी, जिसे देश ने बड़ी हिम्मत और संकल्प के साथ सामना किया। महात्मा गांधी, जो विभाजन के कट्टर विरोधी थे, ने स्वतंत्रता दिवस पर दिल्ली में आयोजित समारोह में भाग नहीं लिया। वे कलकत्ता में थे, जहाँ वे सांप्रदायिक सन्द्राव के लिए प्रयास कर रहे थे। स्वतंत्रता के बाद, गांधीजी ने शांति और सन्द्राव के लिए अथक प्रयास किया, लेकिन **30** जनवरी, **1948** को उनकी हत्या कर दी गई, जो स्वतंत्र भारत के लिए एक बड़ा

आघात था। **1945-47** की अवधि में, भारतीय साहित्य, कला और संस्कृति में भी महत्वपूर्ण विकास हुए। स्वतंत्रता की भावना ने लेखकों, कवियों, कलाकारों और संगीतकारों को प्रेरित किया, जिन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से राष्ट्रीय भावना और समकालीन चुनौतियों को व्यक्त किया। स्वतंत्रता के साथ ही, भारत के सामने कई चुनौतियां थीं - आर्थिक विकास, सामाजिक न्याय, शिक्षा, स्वास्थ्य और अंतरराष्ट्रीय संबंधों का निर्माण। स्वतंत्र भारत ने इन चुनौतियों का सामना किया और एक लोकतांत्रिक, धर्मनिरपेक्ष और संप्रभु राष्ट्र के रूप में अपनी पहचान बनाई।

विभाजन और स्वतंत्रता के इतिहास का अध्ययन आज भी उतना ही प्रासंगिक है। यह हमें याद दिलाता है कि स्वतंत्रता एक अमूल्य उपहार है, जिसे हमें संजोकर रखना चाहिए। साथ ही, यह हमें सिखाता है कि सांप्रदायिक सद्भाव, एकता और शांति हमारे समाज के स्तंभ हैं, जिन्हें हमें हर कीमत पर बनाए रखना चाहिए। स्वतंत्रता के **75** वर्षों में, भारत ने अनेक चुनौतियों का सामना किया है और महत्वपूर्ण उपलब्धियां हासिल की हैं। आज हम गर्व से कह सकते हैं कि भारत दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र है, जहाँ विविधता में एकता की भावना मजबूत है। लेकिन साथ ही, हमें यह भी याद रखना चाहिए कि हमारे स्वतंत्रता सेनानियों ने जिस भारत का सपना देखा था, उसे पूरा करने के लिए अभी भी बहुत कुछ करना बाकी है। **1945-47** की अवधि ने न केवल भारत के भविष्य को आकार दिया, बल्कि पूरे दक्षिण एशिया और विश्व इतिहास को भी प्रभावित किया। यह अवधि हमें सिखाती है कि राष्ट्रीय एकता, सांप्रदायिक सद्भाव और सामाजिक न्याय के बिना कोई भी राष्ट्र अपनी पूर्ण क्षमता को प्राप्त नहीं कर सकता। आज, जब हम अपने देश के भविष्य की दिशा तय कर रहे हैं, हमें इन सबकों को याद रखना चाहिए और उन सिद्धांतों और मूल्यों पर काम करना चाहिए, जिनके लिए हमारे स्वतंत्रता सेनानियों ने संघर्ष किया था। अंत में, यह कहना उचित होगा कि **1945-47** की अवधि भारतीय इतिहास का एक परिवर्तनकारी काल था, जिसने हमारे राष्ट्र के भविष्य को आकार दिया। इस अवधि के अध्ययन से हमें न केवल अपने इतिहास के बारे में गहरी जानकारी मिलती है, बल्कि यह हमें वर्तमान और भविष्य की चुनौतियों का सामना करने के लिए भी प्रेरित करता है। आज, जब हम एक नए भारत के निर्माण की दिशा में आगे बढ़ रहे हैं, हमें उन आदर्शों और मूल्यों को याद रखना चाहिए, जिनके लिए हमारे पूर्वजों ने अपना जीवन समर्पित किया था।

इकाई 21: राष्ट्रीय आन्दोलन और समाजवादी विचारधारा

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में समाजवादी विचारधारा का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। स्वतंत्रता संग्राम केवल विदेशी शासन से मुक्ति का आन्दोलन नहीं था, बल्कि एक ऐसे नए भारत के निर्माण का स्वप्न भी था जहाँ सामाजिक न्याय, आर्थिक समानता और मानवीय गरिमा सुनिश्चित हो। इस परिप्रेक्ष्य में समाजवादी विचारधारा ने राष्ट्रीय आन्दोलन को नई दिशा और गति प्रदान की। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के दौरान, विशेषकर **1920** के दशक के बाद, समाजवादी विचारों का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। यह अध्याय भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन और समाजवादी

विचारधारा के बीच के जटिल संबंधों का विश्लेषण करता है, उनके विकास, परिवर्तन और प्रभावों की व्याख्या करता है, और आधुनिक भारत के निर्माण में उनके योगदान का मूल्यांकन करता है। भारत में समाजवादी विचारधारा का प्रवेश औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध संघर्ष के साथ-साथ हुआ। जबकि पश्चिमी देशों में समाजवाद का उदय औद्योगिक क्रांति और पूंजीवादी व्यवस्था के विरोध में हुआ, भारत में यह औपनिवेशिक शोषण और सामाजिक-आर्थिक असमानताओं के विरुद्ध संघर्ष के रूप में विकसित हुआ। भारतीय समाजवादी आन्दोलन की अपनी विशिष्ट विशेषताएँ थीं जो उसे यूरोपीय समाजवाद से अलग करती थीं। यहाँ यह जातीय भेदभाव, धार्मिक पहचान, सामंती अवशेषों और गहरी सामाजिक असमानताओं के मुद्दों से जुड़ा था। भारतीय समाजवादियों के सामने दोहरी चुनौती थी - एक ओर औपनिवेशिक शासन से मुक्ति और दूसरी ओर सामाजिक-आर्थिक न्याय पर आधारित नए समाज का निर्माण।

रूसी क्रांति (1917) ने भारतीय क्रांतिकारियों और राजनीतिक कार्यकर्ताओं पर गहरा प्रभाव डाला। लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविकों की सफलता ने दिखाया कि एक संगठित जनांदोलन शक्तिशाली साम्राज्यवादी शक्तियों को भी परास्त कर सकता है। इसके प्रभाव से भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन का बीज पड़ा और 1920 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई। एम.एन. रॉय, श्रीपाद अमृत डांगे, मुजफ्फर अहमद, सिंगारवेलु चेट्टियार जैसे नेताओं ने भारतीय मार्क्सवाद की नींव रखी। वे मानते थे कि भारत में सामंती और औपनिवेशिक शोषण का अंत करने के लिए वर्ग संघर्ष आवश्यक है। उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की गांधीवादी रणनीतियों की आलोचना की, जिन्हें वे पूंजीपतियों और जमींदारों के हितों की रक्षा करने वाली मानते थे। 1920 के दशक में ही, युवा नेताओं का एक समूह कांग्रेस के भीतर समाजवादी विचारों को बढ़ावा देने लगा। जवाहरलाल नेहरू, सुभाष चंद्र बोस, आचार्य नरेंद्र देव, जयप्रकाश नारायण जैसे नेताओं ने राष्ट्रीय आन्दोलन को अधिक आर्थिक और सामाजिक मुद्दों की ओर मोड़ने का प्रयास किया। उन्होंने महसूस किया कि राजनीतिक स्वतंत्रता अपने आप में पर्याप्त नहीं है; वास्तविक स्वतंत्रता तभी आएगी जब भारत के करोड़ों गरीब, शोषित और वंचित लोगों को आर्थिक और सामाजिक न्याय मिलेगा। जवाहरलाल नेहरू ने अपनी यात्राओं के दौरान सोवियत संघ और अन्य यूरोपीय देशों में समाजवादी प्रयोगों का अध्ययन किया और आने वाले वर्षों में वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में समाजवादी विचारों के प्रमुख प्रवक्ता बन गए। 1928-29 में मेरठ षड्यंत्र मामले भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के लिए एक महत्वपूर्ण घटना थी। ब्रिटिश सरकार ने कम्युनिस्ट नेताओं पर राजद्रोह का आरोप लगाया और उन्हें गिरफ्तार किया। हालांकि यह कम्युनिस्टों के दमन का प्रयास था, लेकिन इसने उनके विचारों को व्यापक प्रचार भी दिया। यह मुकदमा चार साल तक चला और इस दौरान जेल में रहते हुए भी कम्युनिस्ट नेताओं ने अपने विचारों का प्रचार किया और मजदूर आन्दोलन को संगठित करने के लिए रणनीतियाँ विकसित कीं।

1934 में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी (CSP) की स्थापना भारतीय समाजवादी आन्दोलन के इतिहास

में एक महत्वपूर्ण मोड़ थी। आचार्य नरेंद्र देव, जयप्रकाश नारायण, मीनू मसानी और अन्य ने कांग्रेस के भीतर ही एक सोशलिस्ट समूह बनाया। उनका उद्देश्य कांग्रेस को समाजवादी दिशा में धकेलना और स्वतंत्रता संग्राम को वर्ग संघर्ष से जोड़ना था। **CSP** ने कांग्रेस और कम्युनिस्टों के बीच एक महत्वपूर्ण सेतु का काम किया और मजदूरों, किसानों और छात्रों के बीच काम करके जनांदोलन को मजबूत किया। वे गांधीवादी अहिंसा और सत्याग्रह के सिद्धांतों को स्वीकार करते थे, लेकिन उन्हें एक क्रांतिकारी सामाजिक-आर्थिक आन्दोलन से जोड़ना चाहते थे। महात्मा गांधी और समाजवादियों के बीच का संबंध जटिल था। गांधीजी समाजवादी वर्ग संघर्ष के सिद्धांत से सहमत नहीं थे और वे अहिंसक तरीकों और ट्रस्टीशिप के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन में विश्वास रखते थे। वे पूंजीपतियों और जमींदारों के संपूर्ण उन्मूलन के बजाय उनके हृदय परिवर्तन में विश्वास करते थे। हालांकि, गांधीजी ने युवा समाजवादियों के उत्साह और प्रतिबद्धता का सम्मान किया और उन्हें कांग्रेस में महत्वपूर्ण भूमिकाएँ दीं। उन्होंने जवाहरलाल नेहरू को अपना राजनीतिक उत्तराधिकारी बनाया, जो एक घोषित समाजवादी थे। गांधीजी ने **1938** में हरिपुरा कांग्रेस में सुभाष चंद्र बोस के अध्यक्ष चुने जाने का भी समर्थन किया, हालांकि बाद में उनके बीच मतभेद बढ़ गए। **1930** के दशक में राष्ट्रीय आन्दोलन में समाजवादी प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगा था। **1931** के करांची अधिवेशन में कांग्रेस ने "मौलिक अधिकारों और आर्थिक कार्यक्रम" पर एक प्रस्ताव पारित किया, जिसमें आर्थिक न्याय, समानता और श्रमिक अधिकारों पर जोर दिया गया था। इस प्रस्ताव में, जिसे जवाहरलाल नेहरू ने तैयार किया था, प्रमुख उद्योगों के राष्ट्रीयकरण, भूमि सुधार, न्यूनतम मजदूरी, और सामाजिक सुरक्षा की बात की गई थी। यह भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा अपनाया गया पहला आधिकारिक दस्तावेज था, जिसमें समाजवादी सिद्धांतों को शामिल किया गया था। बाद के वर्षों में, विशेष रूप से **1936** के फैजपुर अधिवेशन में, कांग्रेस के आर्थिक कार्यक्रम में समाजवादी विचारों का और अधिक समावेश हुआ।

किसान और मजदूर आन्दोलनों के विकास ने भी भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में समाजवादी प्रभाव को बढ़ाया। **1920** और **1930** के दशक में, भारत के विभिन्न हिस्सों में किसान और मजदूर संगठन विकसित हुए, जो जमींदारों, साहूकारों और औपनिवेशिक सरकार के शोषण के खिलाफ संघर्ष कर रहे थे। उत्तर प्रदेश में किसान सभा, आंध्र में आंध्र रैयत संघ, बिहार में किसान सभा और कई अन्य संगठन स्थापित हुए। समाजवादी और कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं ने इन संगठनों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और उन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन से जोड़ा। **1936** में अखिल भारतीय किसान सभा की स्थापना हुई, जिसने किसानों के संघर्षों को राष्ट्रीय स्तर पर एकीकृत किया। इसी तरह, मजदूर आन्दोलन भी समाजवादी प्रभाव में विकसित हुआ। **1920** के दशक में, बॉम्बे, कलकत्ता, कानपुर, अहमदाबाद और अन्य औद्योगिक केंद्रों में ट्रेड यूनियन स्थापित हुईं, जो मजदूरों के हितों की रक्षा के लिए संघर्ष कर रही थीं। **1920** में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (**AITUC**) की स्थापना हुई, जिसमें लाला लाजपत राय जैसे राष्ट्रवादी नेताओं के साथ-साथ एन.एम. जोशी और



एस.ए. डांगे जैसे समाजवादी और कम्युनिस्ट नेताओं ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। मजदूर आन्दोलन राष्ट्रीय आन्दोलन का एक अभिन्न अंग बन गया, और **1928-29** की मंदी के दौरान भारत के विभिन्न हिस्सों में मजदूर हड़तालें और प्रदर्शन हुए। सुभाष चंद्र बोस ने राष्ट्रीय आन्दोलन में समाजवादी विचारों को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। वे वामपंथी विचारों के एक प्रमुख प्रवक्ता थे और कांग्रेस के भीतर अधिक क्रांतिकारी दृष्टिकोण के पक्षधर थे। **1938** में वे कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए, और अगले वर्ष उन्होंने गांधीजी के समर्थित उम्मीदवार पट्टाभि सीतारमैया को हराकर दूसरी बार अध्यक्ष पद जीता। हालांकि, गांधीजी और कांग्रेस के अन्य वरिष्ठ नेताओं के साथ मतभेदों के कारण उन्हें अध्यक्ष पद से इस्तीफा देना पड़ा। इसके बाद उन्होंने फॉरवर्ड ब्लॉक की स्थापना की, जो कांग्रेस के भीतर एक वामपंथी गुट था। बोस ने एक ऐसे समाज की कल्पना की जहां सभी उत्पादन के साधन राज्य के स्वामित्व में हों और वैज्ञानिक तरीके से योजनाबद्ध विकास हो। हालांकि, द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान, उन्होंने आजाद हिंद फौज के माध्यम से सशस्त्र संघर्ष का मार्ग चुना, जो कम्युनिस्टों और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की अहिंसक रणनीति से अलग था।

द्वितीय विश्व युद्ध ने भारत के राजनीतिक परिदृश्य में महत्वपूर्ण बदलाव लाए। ब्रिटिश सरकार ने बिना भारतीयों की सहमति के भारत को युद्ध में शामिल कर लिया, जिससे कांग्रेस नेतृत्व नाराज हो गया। कम्युनिस्ट पार्टी ने इस मुद्दे पर अपना रुख बदला। शुरू में उन्होंने युद्ध को "साम्राज्यवादी युद्ध" कहकर इसका विरोध किया, लेकिन जब जून **1941** में नाजी जर्मनी ने सोवियत संघ पर हमला किया, तो उन्होंने इसे "जनता का युद्ध" घोषित कर दिया और ब्रिटिश सरकार का समर्थन करने लगे। इस बदलाव ने कम्युनिस्टों और अन्य राष्ट्रवादी समूहों के बीच गहरी खाई पैदा कर दी।

1942 में महात्मा गांधी ने "भारत छोड़ो" आन्दोलन शुरू किया, जिसने स्वतंत्रता संग्राम को एक नई गति दी। हालांकि कम्युनिस्ट पार्टी ने इस आन्दोलन का समर्थन नहीं किया, कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी और अन्य समाजवादी समूहों ने इसमें सक्रिय भूमिका निभाई। जयप्रकाश नारायण, अरुणा आसफ अली, राम मनोहर लोहिया और अन्य समाजवादी नेताओं ने भूमिगत आन्दोलन का नेतृत्व किया और युवाओं को क्रांतिकारी गतिविधियों में संगठित किया। जयप्रकाश नारायण ने **1943** में नेपाल की सीमा से लगे जंगलों में एक क्रांतिकारी शिविर स्थापित किया और "आजाद दस्ता" के नाम से एक सशस्त्र बल गठित किया। भारत छोड़ो आन्दोलन के दौरान समाजवादियों ने अपनी क्रांतिकारी क्षमता दिखाई और स्वतंत्रता संग्राम को एक नई ऊर्जा दी। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद का काल भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन और समाजवादी विचारधारा के इतिहास में एक महत्वपूर्ण मोड़ था। युद्ध ने ब्रिटिश साम्राज्य को कमजोर कर दिया था, और भारत में स्वतंत्रता की मांग और मजबूत हो गई थी। **1945-46** में, रॉयल इंडियन नेवी के नाविकों की विद्रोह, आजाद हिंद फौज के मुकदमों के खिलाफ प्रदर्शन, और मजदूरों-किसानों के आन्दोलनों ने ब्रिटिश शासन की नींव हिला दी। इन आन्दोलनों में वामपंथी और समाजवादी समूहों की महत्वपूर्ण भूमिका थी, जिन्होंने जन-

आन्दोलन को तेज किया।

1946 के तेभागा आन्दोलन में बंगाल के बटाईदार किसानों ने जमींदारों के विरुद्ध संघर्ष किया और फसल का दो-तिहाई हिस्सा मांगा। कम्युनिस्ट पार्टी ने इस आन्दोलन का नेतृत्व किया और किसानों को संगठित किया। इसी वर्ष तेलंगाना में भी किसान विद्रोह शुरू हुआ, जो हैदराबाद राज्य के निजाम और उसके जागीरदारों के विरुद्ध था। यह विद्रोह **1951** तक चला और इसमें किसानों ने लगभग **3,000** गांवों में अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी। कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में इस आन्दोलन ने भूमि सुधार लागू किए, महिलाओं के अधिकारों की रक्षा की और जनतांत्रिक संस्थाओं की स्थापना की। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत में समाजवादी विचारधारा का महत्वपूर्ण प्रभाव था। जवाहरलाल नेहरू, जो स्वतंत्र भारत के पहले प्रधानमंत्री बने, एक समाजवादी दृष्टिकोण के साथ भारत के विकास की योजना बना रहे थे। संविधान में "सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय" के सिद्धांतों को सम्मिलित किया गया और निर्देशक सिद्धांतों में समाजवादी लक्ष्यों को रखा गया। हालांकि, विभाजन की त्रासदी और आर्थिक चुनौतियों ने तत्काल क्रांतिकारी परिवर्तनों की संभावना को सीमित कर दिया। स्वतंत्रता के बाद, कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी कांग्रेस से अलग हो गई और **1952** में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी (**PSP**) बन गई। जयप्रकाश नारायण, आचार्य नरेंद्र देव, और राम मनोहर लोहिया जैसे प्रमुख समाजवादी नेताओं ने कांग्रेस की नीतियों की आलोचना की और एक अधिक क्रांतिकारी समाजवादी कार्यक्रम की वकालत की। इसके अलावा, कम्युनिस्ट पार्टी ने भी स्वतंत्र भारत में अपनी उपस्थिति मजबूत की और विभिन्न राज्यों, विशेष रूप से केरल, पश्चिम बंगाल और त्रिपुरा में महत्वपूर्ण राजनीतिक शक्ति बनी। नेहरू के नेतृत्व में भारत ने एक "मिश्रित अर्थव्यवस्था" का मॉडल अपनाया, जिसमें सार्वजनिक और निजी क्षेत्र दोनों की भूमिका थी। प्रथम और द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में "समाजवादी ढांचे के समाज" की स्थापना का लक्ष्य रखा गया था। बड़े उद्योगों, बैंकों, बीमा कंपनियों का राष्ट्रीयकरण किया गया और गरीबी उन्मूलन, आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय के लिए कई कार्यक्रम शुरू किए गए। हालांकि, नेहरू के दृष्टिकोण को "नेहरूवियन समाजवाद" कहा जाता है, जो वास्तविक समाजवाद से अलग था और जिसमें उदार लोकतंत्र और मिश्रित अर्थव्यवस्था के तत्व शामिल थे। समाजवादी विचारों ने शिक्षा, संस्कृति और साहित्य को भी प्रभावित किया। प्रगतिशील लेखक संघ (**PWA**) और भारतीय पीपुल्स थिएटर एसोसिएशन (**IPTA**) जैसे संगठनों ने समाजवादी सिद्धांतों पर आधारित साहित्य और कला को बढ़ावा दिया। मुंशी प्रेमचंद, यशपाल, कृशन चंदर, मुल्क राज आनंद, अमृता प्रीतम, सआदत हसन मंटो जैसे प्रगतिशील लेखकों ने अपने लेखन के माध्यम से सामाजिक न्याय और समानता के मूल्यों का प्रचार किया। बिस्मिल अजीमाबादी, फैज अहमद फैज, मखदूम मोहिउद्दीन, अली सरदार जाफरी जैसे कवियों ने अपनी कविताओं के माध्यम से क्रांतिकारी विचारों को जन-जन तक पहुंचाया।



भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में समाजवादी विचारधारा के योगदान का मूल्यांकन करते हुए, हम देख सकते हैं कि इसने आन्दोलन को कई तरह से प्रभावित किया। पहला, इसने राष्ट्रीय आन्दोलन के सामाजिक आधार को व्यापक बनाया और मजदूरों, किसानों, छात्रों और मध्यम वर्ग के बीच राजनीतिक चेतना जगाई। दूसरा, इसने स्वतंत्रता के संघर्ष को केवल राजनीतिक स्वतंत्रता से आगे बढ़ाकर सामाजिक-आर्थिक न्याय के लिए संघर्ष बना दिया। तीसरा, इसने औपनिवेशिक शोषण के आर्थिक पहलुओं को इसने औपनिवेशिक शोषण के आर्थिक पहलुओं पर ध्यान केंद्रित किया और दिखाया कि ब्रिटिश शासन भारत के आर्थिक विकास में बाधक है। चौथा, इसने राष्ट्रीय आन्दोलन को एक वैचारिक दिशा प्रदान की और स्वतंत्र भारत के विकास के लिए एक रूपरेखा तैयार की। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में समाजवादी विचारधारा के विकास की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि यह विभिन्न रूपों और धाराओं में विकसित हुई। एक ओर, मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारधारा पर आधारित कम्युनिस्ट पार्टी थी, जो वर्ग संघर्ष और सर्वहारा क्रांति में विश्वास रखती थी। दूसरी ओर, कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी जैसे संगठन थे, जो लोकतांत्रिक समाजवाद में विश्वास रखते थे और अहिंसक तरीकों से समाज परिवर्तन चाहते थे। फिर, नेहरू जैसे नेता थे, जो समाजवादी लक्ष्यों के लिए प्रतिबद्ध थे, लेकिन जो क्रांतिकारी परिवर्तन के बजाय क्रमिक सुधारों के माध्यम से उन्हें प्राप्त करना चाहते थे। और अंत में, गांधीजी जैसे लोग थे, जो हालांकि स्वयं को समाजवादी नहीं कहते थे, लेकिन जिनके विचारों में समाजवादी मूल्यों के कई तत्व शामिल थे। गांधीजी का "सर्वोदय" का सिद्धांत, जिसका अर्थ है "सभी का उदय" या "सभी का कल्याण", समाजवादी विचारों से प्रभावित था, हालांकि यह कई मायनों में अलग भी था। गांधीजी जातिवाद, छुआछूत और गरीबी जैसी सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध थे और एक ऐसे समाज की कल्पना करते थे जहां सभी को न्याय और समानता मिले। उन्होंने 'ट्रस्टीशिप' का सिद्धांत दिया, जिसके अनुसार धनवान लोगों को अपनी संपत्ति समाज के हित के लिए एक ट्रस्टी की तरह उपयोग करनी चाहिए। गांधीजी की "बुनियादी शिक्षा" की अवधारणा, जिसमें हाथ और दिमाग दोनों के कौशल विकसित करने पर जोर दिया गया था, भी उनके समतावादी दृष्टिकोण को दर्शाती है। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में समाजवादी विचारधारा के विकास पर विभिन्न अंतरराष्ट्रीय घटनाओं का भी प्रभाव पड़ा। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, **1917** की रूसी क्रांति ने भारतीय क्रांतिकारियों को प्रेरित किया और उनके सामने एक नए समाज के निर्माण का एक मॉडल प्रस्तुत किया। इसी तरह, **1929** की विश्वव्यापी आर्थिक मंदी ने पूंजीवादी व्यवस्था की कमजोरियों को उजागर किया और एक वैकल्पिक आर्थिक मॉडल की आवश्यकता पर जोर दिया। स्पेन के गृह युद्ध (**1936-39**) में अंतरराष्ट्रीय स्वयंसेवकों की भागीदारी, जिसमें कुछ भारतीय भी शामिल थे, ने फासीवाद के खिलाफ अंतरराष्ट्रीय एकजुटता की भावना को मजबूत किया। चीन में कम्युनिस्ट क्रांति (**1949**) का भी भारतीय वामपंथी आन्दोलन पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। माओ त्से तुंग के नेतृत्व में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की सफलता ने दिखाया कि एक एशियाई देश में

भी समाजवादी क्रांति संभव है। 1950 के दशक में, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर एक विभाजन हुआ, जिसके परिणामस्वरूप 1964 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) का गठन हुआ। यह विभाजन मुख्य रूप से चीन-सोवियत विवाद और भारतीय राजनीति में कम्युनिस्टों की भूमिका के बारे में मतभेदों के कारण हुआ। भारत के स्वतंत्रता संग्राम में महिला समाजवादी नेताओं की भूमिका भी महत्वपूर्ण थी। सरोजिनी नायडू, कमलादेवी चट्टोपाध्याय, अरुणा आसफ अली, सुचेता कृपलानी, कैप्टन लक्ष्मी सहगल जैसी प्रमुख महिला नेताओं ने राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय भूमिका निभाई और समाजवादी विचारों के प्रसार में योगदान दिया। अरुणा आसफ अली कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की संस्थापक सदस्य थीं और उन्होंने 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन के दौरान भूमिगत प्रतिरोध का नेतृत्व किया। कैप्टन लक्ष्मी सहगल आजाद हिंद फौज की महिला रेजिमेंट "झांसी की रानी रेजिमेंट" की कमांडर थीं और स्वतंत्रता के बाद वे कम्युनिस्ट पार्टी की नेता बनीं। भारतीय समाजवादी विचारकों ने न केवल यूरोपीय समाजवादी सिद्धांतों को अपनाया, बल्कि उन्हें भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप विकसित भी किया। उन्होंने भारतीय समाज की विशिष्ट समस्याओं जैसे जाति व्यवस्था, साम्प्रदायिकता, अशिक्षा और गरीबी के संदर्भ में समाजवादी विचारों को पुनर्व्याख्यित किया। एम.एन. रॉय ने 1920 के दशक में ही भारत में क्रांति की संभावनाओं पर लेनिन के साथ बहस की थी और भारतीय समाज के विशिष्ट वर्ग-संरचना पर जोर दिया था। आचार्य नरेंद्र देव ने मार्क्सवाद और गांधीवाद के बीच एक संश्लेषण की कोशिश की, और भारतीय परिप्रेक्ष्य में मार्क्सवाद की व्याख्या की। राम मनोहर लोहिया ने "सप्त क्रांति" (सात क्रांतियों) का सिद्धांत दिया, जिसमें जाति, महिला, आर्थिक असमानता, रंगभेद, सिविल लिबर्टीज, अंतरराष्ट्रीय अनियमितताओं और बड़े पैमाने पर हथियारों के विरुद्ध क्रांति शामिल थी। बौद्धिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में, समाजवादी विचारकों ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। डी.डी. कोसांबी, डी.पी. चट्टोपाध्याय, पी.सी. जोशी, रणधीर सिंह जैसे विद्वानों ने भारतीय इतिहास, समाज और संस्कृति की मार्क्सवादी व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने भारतीय इतिहास में वर्ग संघर्ष, जाति व्यवस्था के विकास, और सामंती उत्पादन प्रणाली के विश्लेषण पर काम किया। कोसांबी की पुस्तक "प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता" (1965) आज भी इस क्षेत्र में एक मूलभूत काम मानी जाती है। स्वतंत्रता के बाद की अवधि में, भारत में समाजवादी विचारधारा के विभिन्न रूप विकसित हुए। कांग्रेस के भीतर, नेहरू के नेतृत्व में 1955 में अविपुरी कांग्रेस में औपचारिक रूप से "समाजवादी समाज के पैटर्न" को अपनाया गया। 1971 में इंदिरा गांधी सरकार के "गरीबी हटाओ" के नारे ने समाजवादी लक्ष्यों को और मजबूत किया। 1976 में, 42वें संविधान संशोधन के माध्यम से संविधान की प्रस्तावना में "समाजवादी" और "धर्मनिरपेक्ष" शब्द जोड़े गए। अन्य वामपंथी दलों ने भी स्वतंत्रता के बाद भारतीय राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) ने विभिन्न राज्यों में सरकारें बनाईं। 1957 में, केरल में ई.एम.एस. नम्बूदरीपाद के नेतृत्व में चुनी गई पहली कम्युनिस्ट सरकार बनी।



इस सरकार ने महत्वपूर्ण भूमि सुधार और शिक्षा सुधार लागू किए, जिन्होंने बाद में केरल के विकास मॉडल के आधार बने। 1977 में, पश्चिम बंगाल में ज्योति बसु के नेतृत्व में वामपंथी मोर्चा की सरकार बनी, जो 2011 तक सत्ता में रही। इस सरकार ने भी महत्वपूर्ण भूमि सुधार और पंचायती राज व्यवस्था के विकेंद्रीकरण जैसे कार्यक्रम लागू किए। समाजवादी नेताओं ने स्वतंत्रता के बाद विभिन्न सामाजिक आन्दोलनों में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। जयप्रकाश नारायण, जो स्वतंत्रता संग्राम के दौरान कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के प्रमुख नेता थे, ने 1950 के दशक में दलीय राजनीति छोड़ दी और "संपूर्ण क्रांति" के आन्दोलन का नेतृत्व किया। उन्होंने विनोबा भावे के साथ भूदान और ग्रामदान आन्दोलन में भाग लिया और लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण के लिए काम किया। 1970 के दशक में, उन्होंने "संपूर्ण क्रांति" का नारा दिया और भ्रष्टाचार के विरुद्ध आन्दोलन का नेतृत्व किया, जिसने 1977 में जनता पार्टी सरकार के गठन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

1991 के आर्थिक सुधारों के बाद, भारत में नव-उदारवादी नीतियों की शुरुआत हुई और समाजवादी विचारधारा का प्रभाव कम होने लगा। हालांकि, समाजवादी विचारों का प्रभाव आज भी भारतीय राजनीति और समाज में देखा जा सकता है। अधिकांश राजनीतिक दल, यहां तक कि वे जो आर्थिक उदारीकरण का समर्थन करते हैं, अभी भी समाजवादी शब्दावली का उपयोग करते हैं और सार्वजनिक क्षेत्र और कल्याणकारी राज्य की भूमिका पर जोर देते हैं। आज भी, जब हम भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन और उसके विकास का अध्ययन करते हैं, तो समाजवादी विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। यह प्रभाव राजनीतिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है, बल्कि साहित्य, कला, संस्कृति, शिक्षा और समाज के विभिन्न पहलुओं में देखा जा सकता है। भारतीय संविधान में निहित मौलिक अधिकार और निर्देशक सिद्धांत, पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से विकास की रणनीति, गरीबी उन्मूलन और सामाजिक न्याय के लिए विभिन्न कार्यक्रम, और सामाजिक विविधता के प्रति सम्मान की भावना - ये सभी समाजवादी विचारधारा से प्रभावित हैं। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में समाजवादी विचारधारा के विकास की एक और महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इसने जाति, वर्ग और लिंग आधारित भेदभाव के विरुद्ध संघर्ष को मजबूत किया। डॉ. बी.आर. अम्बेडकर, जो स्वयं एक समाजवादी नहीं थे, लेकिन जिनके विचारों में समाजवादी तत्व शामिल थे, ने दलित मुक्ति आन्दोलन को मजबूत किया और जाति-आधारित भेदभाव के विरुद्ध संघर्ष किया। उन्होंने 1936 में स्वतंत्र लेबर पार्टी की स्थापना की और 1942 में "शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन" का गठन किया। अम्बेडकर के विचारों में सामाजिक न्याय और समानता पर जोर था, जो समाजवादी मूल्यों के समान था। इसी तरह, पेरियार ई.वी. रामासामी, जिन्होंने दक्षिण भारत में "स्व-सम्मान आन्दोलन" (Self-Respect Movement) का नेतृत्व किया, ने जाति व्यवस्था, ब्राह्मणवाद और अंधविश्वासों के विरुद्ध संघर्ष किया। हालांकि पेरियार ने स्वयं को समाजवादी के रूप में नहीं पहचाना, उनके विचारों में समाजवादी मूल्यों के कई तत्व मौजूद थे, जैसे सामाजिक न्याय, समानता और मानव गरिमा पर जोर।

समाजवादी विचारधारा ने महिला मुक्ति आन्दोलन को भी प्रभावित किया। अखिल भारतीय महिला कांग्रेस, अखिल भारतीय जनवादी महिला समिति, और नेशनल फेडरेशन ऑफ इंडियन वुमेन जैसे संगठनों ने महिलाओं के अधिकारों के लिए संघर्ष किया और उनके राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक सशक्तिकरण के लिए काम किया। कमलादेवी चट्टोपाध्याय, अरुणा आसफ अली, सुचेता कृपलानी जैसी नेताओं ने महिलाओं के मुद्दों को राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ जोड़ा और लिंग-आधारित भेदभाव के विरुद्ध आवाज उठाई। स्वतंत्रता के बाद, भारत में समाजवादी विचारधारा के विकास और प्रभाव को समझने के लिए कुछ महत्वपूर्ण घटनाओं और प्रवृत्तियों का उल्लेख करना आवश्यक है। **1950** के दशक में, प्रथम और द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से, भारत ने मिश्रित अर्थव्यवस्था मॉडल अपनाया, जिसमें भारी उद्योगों पर सार्वजनिक क्षेत्र का नियंत्रण था। **1955** के अविपुरी अधिवेशन में, कांग्रेस ने "समाजवादी समाज के पैटर्न" को अपनाया और **1956** में द्वितीय पंचवर्षीय योजना शुरू की, जिसमें औद्योगिकीकरण पर विशेष जोर दिया गया था। हालांकि, **1960** के दशक में, विभिन्न कारणों से समाजवादी विचारधारा की गति धीमी पड़ गई। **1962** के भारत-चीन युद्ध ने भारतीय कम्युनिस्टों के बीच विभाजन पैदा किया और राष्ट्रीय राजनीति में वामपंथियों की स्थिति कमजोर हुई। **1965-66** की आर्थिक मंदी और खाद्य संकट ने आर्थिक नीतियों में बदलाव लाए, और कृषि क्षेत्र में "हरित क्रांति" की शुरुआत हुई, जिसने ग्रामीण असमानताओं को बढ़ाया। **1969** के बैंकों के राष्ट्रीयकरण और **1971** के "गरीबी हटाओ" के नारे के साथ, इंदिरा गांधी ने समाजवादी नीतियों की ओर एक नया मोड़ दिया। **1975-77** की आपातकाल की अवधि के दौरान, हालांकि, सरकार ने अधिनायकवादी प्रवृत्तियां दिखाईं और वामपंथी और अन्य विपक्षी नेताओं को जेल में डाला गया। **1977** में, जनता पार्टी सरकार के गठन के साथ, समाजवादी नेताओं जैसे राम मनोहर लोहिया, मधु लिमये, और जॉर्ज फर्नांडीस के विचारों ने सरकारी नीतियों को प्रभावित किया। **1980** के दशक में, पश्चिम बंगाल, केरल और त्रिपुरा में वामपंथी सरकारों ने महत्वपूर्ण सुधार लागू किए, जिसमें भूमि सुधार, पंचायती राज संस्थाओं का विकेंद्रीकरण, और शिक्षा व स्वास्थ्य में सुधार शामिल थे।

1991 के आर्थिक सुधारों के बाद, भारत ने नव-उदारवादी नीतियां अपनाईं और समाजवादी विचारधारा का प्रभाव कम होने लगा। हालांकि, भारतीय राजनीति और समाज में समाजवादी मूल्यों का प्रभाव आज भी देखा जा सकता है। सार्वजनिक क्षेत्र की कंपनियां, सामाजिक कल्याण कार्यक्रम, आरक्षण नीतियां, और गरीबी उन्मूलन के लिए विभिन्न योजनाएं इसके उदाहरण हैं। वर्तमान समय में, राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम (**MGNREGA**), खाद्य सुरक्षा अधिनियम, स्वास्थ्य बीमा योजनाएं, और शिक्षा का अधिकार अधिनियम जैसे कार्यक्रम समाजवादी सिद्धांतों से प्रभावित हैं। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन और समाजवादी विचारधारा के बीच के संबंधों का अध्ययन करते समय, हमें इन महत्वपूर्ण बिंदुओं पर विचार करना चाहिए: पहला, भारत में समाजवाद का विकास विदेशी विचारों के आयात के रूप में नहीं, बल्कि भारतीय परिस्थितियों और

आवश्यकताओं के अनुरूप एक स्वदेशी विकास के रूप में हुआ। दूसरा, समाजवादी विचारधारा ने राष्ट्रीय आन्दोलन को गहराई और व्यापकता प्रदान की, इसे केवल विदेशी शासन से मुक्ति के संघर्ष से आगे बढ़ाकर सामाजिक-आर्थिक न्याय के लिए संघर्ष बना दिया। तीसरा, समाजवादी विचारों ने स्वतंत्र भारत की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक नीतियों को गहरे रूप से प्रभावित किया, और भारतीय संविधान, पंचवर्षीय योजनाओं, और विभिन्न सामाजिक कल्याण कार्यक्रमों में इनका प्रभाव देखा जा सकता है। आज के संदर्भ में, जब हम वैश्विक अर्थव्यवस्था के एकीकरण और बाजार-आधारित अर्थव्यवस्था की ओर बढ़ रहे हैं, समाजवादी विचारधारा की प्रासंगिकता पर सवाल उठाए जाते हैं। हालांकि, असमानता, बेरोजगारी, पर्यावरणीय गिरावट, और सामाजिक टकराव जैसी समस्याएं दिखाती हैं कि समाजवादी विचारों की प्रासंगिकता अभी समाप्त नहीं हुई है। समावेशी विकास, समानता, सामाजिक न्याय, और पर्यावरणीय संरक्षण के मूल्य, जो समाजवादी विचारधारा का अभिन्न हिस्सा हैं, आज भी प्रासंगिक हैं। इस प्रकार, भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन और समाजवादी विचारधारा का इतिहास केवल अतीत का अध्ययन नहीं है, बल्कि वर्तमान की चुनौतियों का सामना करने और भविष्य का निर्माण करने के लिए मार्गदर्शन भी प्रदान करता है। समाजवादी विचारधारा के प्रभाव से भारत में अनेक प्रगतिशील कानून और नीतियां लागू हुईं, जिन्होंने समाज के कमजोर वर्गों के उत्थान में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1950 के दशक में हिन्दू कोड बिल के माध्यम से हिन्दू महिलाओं को संपत्ति के अधिकार मिले, विवाह और तलाक के कानूनों में सुधार हुआ, और महिलाओं को कानूनी सुरक्षा प्रदान की गई।

इकाई 22: देश का विभाजन और स्वतन्त्र भारत की चुनौतियां

भारत का विभाजन और स्वतंत्रता एक ही सिक्के के दो पहलू थे। जिस दिन भारत स्वतंत्र हुआ, उसी दिन उसका विभाजन भी हुआ। यह विभाजन केवल भूगोल का नहीं, बल्कि सदियों से एक साथ रह रहे समाज, संस्कृति और परंपराओं का भी था। स्वतंत्रता के साथ ही भारत को अनेक चुनौतियों का सामना करना पड़ा। एक ओर जहां विभाजन की त्रासदी से जूझना था, वहीं दूसरी ओर नए स्वतंत्र राष्ट्र के निर्माण की चुनौतियां थीं। यह अध्याय भारत के विभाजन के कारणों, प्रक्रिया और परिणामों के साथ-साथ स्वतंत्र भारत के सामने आई प्रमुख चुनौतियों और उनसे निपटने के लिए किए गए प्रयासों पर प्रकाश डालता है।

विभाजन की पृष्ठभूमि

भारत का विभाजन कोई अचानक घटित होने वाली घटना नहीं थी, बल्कि यह एक लंबी राजनीतिक प्रक्रिया का परिणाम था जिसकी जड़ें उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में ब्रिटिश शासन की 'फूट डालो और राज करो' की नीति में निहित थीं। औपनिवेशिक शासकों ने भारतीय समाज में मौजूद धार्मिक विविधता का लाभ उठाया और हिंदू-मुस्लिम विभाजन को बढ़ावा दिया। 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के बाद, ब्रिटिश सरकार ने भारतीय जनता में एकता की भावना को कमजोर करने के लिए सांप्रदायिक विभाजन की नीति अपनाई। सर सैयद अहमद खान, जिन्होंने पहले भारतीय राष्ट्रवाद

का समर्थन किया था, 1857 के विद्रोह के बाद मुसलमानों और अंग्रेजों के बीच संबंधों को सुधारने के लिए काम करने लगे। उन्होंने महसूस किया कि मुसलमानों को आधुनिक शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए और ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग करना चाहिए। उन्होंने 1875 में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय (तब मोहम्मडन एंग्लो-ओरिएंटल कॉलेज) की स्थापना की, जो मुस्लिम राजनीतिक चेतना के विकास का केंद्र बन गया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना 1885 में हुई थी। शुरू में, कांग्रेस ने मध्यम राजनीतिक मांगें रखीं और सभी समुदायों के हितों का प्रतिनिधित्व करने का दावा किया। हालांकि, कुछ मुस्लिम नेताओं ने महसूस किया कि कांग्रेस मुसलमानों के हितों की पर्याप्त रूप से रक्षा नहीं कर रही है। इसने मुस्लिम पृथक्तावादी भावनाओं को बढ़ावा दिया। 1905 में बंगाल के विभाजन ने सांप्रदायिक विभाजन को और गहरा कर दिया। लॉर्ड कर्जन द्वारा प्रस्तावित इस विभाजन ने पूर्वी बंगाल में मुसलमानों को बहुमत दिया, जबकि पश्चिमी बंगाल में हिंदू बहुमत में थे। हालांकि बाद में 1911 में यह विभाजन रद्द कर दिया गया, लेकिन इसने हिंदू-मुस्लिम संबंधों पर गहरा प्रभाव डाला।

इसी पृष्ठभूमि में 1906 में ऑल इंडिया मुस्लिम लीग की स्थापना हुई, जिसका उद्देश्य मुसलमानों के राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक हितों की रक्षा करना था। शुरू में, मुस्लिम लीग ने ब्रिटिश सरकार के प्रति वफादारी दिखाई और मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचन क्षेत्रों की मांग की। 1909 के मॉर्ले-मिंटो सुधारों ने मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचन क्षेत्रों को मान्यता दी, जिससे सांप्रदायिक राजनीति को और बढ़ावा मिला। 1916 में कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने लखनऊ समझौते पर हस्ताक्षर किए, जिसमें पृथक निर्वाचन क्षेत्रों को स्वीकार किया गया और दोनों संगठनों ने ब्रिटिश शासन से कुछ राजनीतिक सुधारों की मांग की। हालांकि, यह समझौता अल्पकालिक था और जल्द ही दोनों संगठनों के बीच मतभेद बढ़ने लगे। प्रथम विश्व युद्ध के बाद, भारतीय राजनीति में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। महात्मा गांधी के राजनीतिक मंच पर आने के साथ कांग्रेस अधिक आक्रामक हो गई और जन आंदोलनों का नेतृत्व करने लगी। खिलाफत आंदोलन के दौरान, हिंदू और मुसलमानों के बीच एकता की भावना विकसित हुई, लेकिन यह क्षणिक थी। 1920 के दशक में, सांप्रदायिक तनाव बढ़ गया और कई हिंदू-मुस्लिम दंगे हुए। इस दौरान, मुस्लिम लीग और हिंदू महासभा जैसे संगठन अधिक सक्रिय हो गए। 1928 में, मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में नेहरू रिपोर्ट ने पृथक निर्वाचन क्षेत्रों को समाप्त करने और संयुक्त निर्वाचन क्षेत्रों की सिफारिश की, जिसका मुस्लिम लीग ने विरोध किया। 1930 में, मुहम्मद इकबाल ने मुस्लिम लीग के इलाहाबाद अधिवेशन में एक अलग मुस्लिम राज्य की अवधारणा प्रस्तुत की। हालांकि, उन्होंने स्पष्ट रूप से पाकिस्तान का नाम नहीं लिया था, लेकिन उनके विचारों ने बाद में द्विराष्ट्र सिद्धांत के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

1935 के भारत सरकार अधिनियम ने प्रांतों में स्वायत्तता प्रदान की और 1937 में चुनाव हुए। इन चुनावों में, कांग्रेस ने अधिकांश प्रांतों में सरकार बनाई, जबकि मुस्लिम लीग का प्रदर्शन अपेक्षा से



कम रहा। इससे मुस्लिम लीग के नेतृत्व में चिंता पैदा हुई और उन्होंने अपनी रणनीति में बदलाव किया। मुहम्मद अली जिन्ना, जिन्हें कभी 'राष्ट्रीय एकता के दूत' के रूप में जाना जाता था, अब अलग मुस्लिम राष्ट्र की मांग करने लगे। 1940 में, मुस्लिम लीग ने लाहौर में अपने वार्षिक अधिवेशन में 'पाकिस्तान प्रस्ताव' पारित किया, जिसमें भारत के उत्तर-पश्चिमी और पूर्वी क्षेत्रों में मुस्लिम बहुसंख्यक क्षेत्रों में स्वतंत्र राज्यों की स्थापना की मांग की गई। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान, ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों का समर्थन प्राप्त करने के लिए विभिन्न प्रस्ताव दिए, लेकिन कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच मतभेदों के कारण कोई समझौता नहीं हो सका। 1942 में, कांग्रेस ने 'भारत छोड़ो' आंदोलन शुरू किया, जबकि मुस्लिम लीग ने ब्रिटिश सरकार का समर्थन किया और पाकिस्तान की मांग को मजबूत किया। युद्ध के बाद, ब्रिटिश सरकार ने भारत को स्वतंत्रता देने का निर्णय लिया। 1946 में, कैबिनेट मिशन भारत आया और एक संघीय योजना प्रस्तावित की, जिसमें एक कमजोर केंद्र और मजबूत प्रांतों का प्रावधान था। शुरू में, कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों ने इस योजना को स्वीकार किया, लेकिन बाद में दोनों पक्षों के बीच मतभेद उभरे और समझौता विफल हो गया। इसके बाद, भारत में सांप्रदायिक हिंसा बढ़ गई। 16 अगस्त, 1946 को मुस्लिम लीग ने 'प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस' मनाया, जिसके परिणामस्वरूप कलकत्ता में भीषण दंगे हुए, जिसमें हजारों लोग मारे गए। यह हिंसा बिहार, पंजाब और अन्य क्षेत्रों में भी फैल गई।

फरवरी 1947 में, ब्रिटिश प्रधानमंत्री क्लेमेंट एटली ने घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार जून 1948 तक भारत को स्वतंत्रता देगी। उन्होंने लॉर्ड माउंटबेटन को भारत का अंतिम वायसराय नियुक्त किया और उन्हें सत्ता हस्तांतरण की प्रक्रिया को पूरा करने का काम सौंपा। माउंटबेटन ने भारत पहुंचने के बाद, सभी राजनीतिक दलों के नेताओं से बातचीत की और महसूस किया कि देश के विभाजन के बिना सत्ता हस्तांतरण संभव नहीं है। जून 1947 में, उन्होंने 'माउंटबेटन योजना' या '3 जून योजना' प्रस्तुत की, जिसमें भारत के विभाजन और दो स्वतंत्र राज्यों - भारत और पाकिस्तान की स्थापना का प्रस्ताव था। कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों ने इस योजना को स्वीकार किया।

इस प्रकार, लंबी राजनीतिक प्रक्रिया, सांप्रदायिक तनाव, ब्रिटिश नीतियों और विभिन्न राजनीतिक दलों के बीच समझौता न होने के कारण भारत का विभाजन अनिवार्य हो गया।

विभाजन की प्रक्रिया

भारत का विभाजन एक जटिल और दर्दनाक प्रक्रिया थी, जिसने लाखों लोगों के जीवन को प्रभावित किया। 3 जून, 1947 को माउंटबेटन योजना की घोषणा के बाद, विभाजन की प्रक्रिया तेजी से आगे बढ़ी। ब्रिटिश संसद ने 18 जुलाई, 1947 को 'भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम' पारित किया, जिसके अनुसार 15 अगस्त, 1947 को दो स्वतंत्र राष्ट्रों - भारत और पाकिस्तान का जन्म होना था। विभाजन के लिए, सीमाओं का निर्धारण करना सबसे महत्वपूर्ण और विवादास्पद मुद्दा था। इसके लिए, दो सीमा आयोगों का गठन किया गया - एक पंजाब के लिए और दूसरा बंगाल के लिए। इन आयोगों की अध्यक्षता सर सिरिल रैडक्लिफ ने की, जो एक ब्रिटिश वकील थे और भारत के बारे में बहुत

कम जानते थे। दोनों आयोगों में दो-दो हिंदू और मुस्लिम सदस्य थे। सीमा निर्धारण के लिए, रैडक्लिफ ने मुख्य रूप से जनसांख्यिकीय आधार (हिंदू और मुस्लिम आबादी का अनुपात) पर विचार किया, हालांकि भौगोलिक, आर्थिक और प्रशासनिक कारकों को भी ध्यान में रखा गया। रैडक्लिफ को केवल पांच सप्ताह का समय दिया गया था, जिससे उनका काम और भी कठिन हो गया। रैडक्लिफ रेखा, जैसा कि इसे बाद में कहा गया, ने पंजाब और बंगाल को दो भागों में विभाजित किया। पश्चिमी पंजाब पाकिस्तान का हिस्सा बना, जबकि पूर्वी पंजाब भारत में रहा। इसी तरह, पूर्वी बंगाल (बाद में पूर्वी पाकिस्तान और 1971 के बाद बांग्लादेश) पाकिस्तान का हिस्सा बना, जबकि पश्चिमी बंगाल भारत में रहा। विभाजन के समय, सिंध, बलूचिस्तान और उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत ने पाकिस्तान के साथ जाने का निर्णय लिया, जबकि असम पूर्वी पाकिस्तान के निकट होने के बावजूद भारत में रहा। सिलहट क्षेत्र (असम का एक हिस्सा) में जनमत संग्रह कराया गया, जिसके परिणामस्वरूप यह क्षेत्र पूर्वी पाकिस्तान का हिस्सा बन गया।

देशी रियासतों के मामले में, उन्हें भारत या पाकिस्तान में शामिल होने या स्वतंत्र रहने का विकल्प दिया गया था। अधिकांश रियासतों ने भौगोलिक और जनसांख्यिकीय कारकों के आधार पर भारत या पाकिस्तान में शामिल होने का निर्णय लिया। हालांकि, कुछ रियासतों, विशेष रूप से हैदराबाद, जूनागढ़ और कश्मीर के मामले में जटिलताएं उत्पन्न हुईं। हैदराबाद के निजाम ने स्वतंत्र रहने का निर्णय लिया, लेकिन आखिरकार सितंबर 1948 में भारतीय सेना के हस्तक्षेप के बाद हैदराबाद भारत में शामिल हो गया। जूनागढ़ के नवाब ने पाकिस्तान के साथ जाने का निर्णय लिया, लेकिन जनमत संग्रह के बाद जूनागढ़ भारत का हिस्सा बन गया। कश्मीर के मामले में, महाराजा हरि सिंह ने शुरू में किसी भी देश में शामिल होने से इनकार कर दिया, लेकिन जब पाकिस्तानी आदिवासियों ने कश्मीर पर हमला किया, तो उन्होंने भारत के साथ विलय समझौते पर हस्ताक्षर किए। इस प्रकार, जम्मू और कश्मीर भारत का हिस्सा बन गया, हालांकि इसका एक बड़ा क्षेत्र पाकिस्तान के नियंत्रण में आ गया, जिसे 'आजाद कश्मीर' के नाम से जाना जाता है। विभाजन की अंतिम सीमाएं 17 अगस्त, 1947 को घोषित की गईं, यानी स्वतंत्रता के दो दिन बाद। यह देरी जानबूझकर की गई थी ताकि स्वतंत्रता समारोह शांतिपूर्ण रूप से मनाया जा सके और कोई हिंसा न हो। हालांकि, यह भी विभाजन की त्रासदी का ही एक हिस्सा था, क्योंकि लोग नहीं जानते थे कि वे किस देश के नागरिक बनेंगे। 15 अगस्त, 1947 को, भारत आजाद हुआ और जवाहरलाल नेहरू देश के पहले प्रधानमंत्री बने। पाकिस्तान 14 अगस्त, 1947 को स्वतंत्र हुआ और मुहम्मद अली जिन्ना वहां के पहले गवर्नर जनरल बने। विभाजन के समय, भारत का आकार बड़ा था और इसकी जनसंख्या भी अधिक थी, जबकि पाकिस्तान दो अलग-अलग भागों में विभाजित था, जिनके बीच 1600 किलोमीटर की दूरी थी।

विभाजन की प्रक्रिया के दौरान, विभिन्न संपत्तियों, संसाधनों और संस्थाओं का भी बंटवारा किया गया। भारत और पाकिस्तान के बीच सैन्य उपकरण, रेलवे सामग्री, राजकोष और अन्य संपत्तियों



का विभाजन किया गया। इस प्रक्रिया में कई विवाद उत्पन्न हुए, जिनमें से कुछ बाद में भी जारी रहे। विभाजन के दौरान, लाखों लोगों को अपना घर छोड़कर पलायन करना पड़ा। हिंदू और सिख पाकिस्तान से भारत आए, जबकि मुसलमान भारत से पाकिस्तान गए। यह विस्थापन मानव इतिहास का सबसे बड़ा पलायन था, जिसमें अनुमानित 1.4 करोड़ लोग शामिल थे। विभाजन के दौरान भीषण हिंसा हुई, जिसमें लाखों लोग मारे गए और बहुत से लोग घायल हुए। महिलाओं के साथ बलात्कार और अपहरण की घटनाएं बड़े पैमाने पर हुईं। अनुमानित दस लाख से अधिक लोग विभाजन के दौरान मारे गए और पंद्रह लाख से अधिक लोग विस्थापित हुए। यह हिंसा पंजाब, बंगाल, दिल्ली, बिहार और अन्य क्षेत्रों में व्यापक रूप से फैली हुई थी। विभाजन के बाद, दोनों देशों के बीच शरणार्थियों के पुनर्वास और गुमशुदा महिलाओं की वापसी जैसी कई समस्याएं उत्पन्न हुईं। भारत और पाकिस्तान दोनों ने अपने-अपने देशों में शरणार्थियों के पुनर्वास के लिए विभिन्न योजनाएं शुरू कीं, लेकिन यह एक लंबी और कठिन प्रक्रिया थी। विभाजन ने न केवल भारत और पाकिस्तान के बीच राजनीतिक और भौगोलिक विभाजन किया, बल्कि इसने सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक विभाजन भी किया। विभाजन के बाद, दोनों देशों के बीच संबंध तनावपूर्ण रहे हैं और कई युद्ध और संघर्ष हुए हैं, जिनमें से कश्मीर विवाद सबसे लंबा और जटिल है।

विभाजन के परिणाम

भारत का विभाजन बीसवीं सदी की सबसे महत्वपूर्ण और दर्दनाक घटनाओं में से एक था, जिसके दूरगामी परिणाम हुए जो आज भी अनुभव किए जाते हैं। विभाजन ने दक्षिण एशिया के भूराजनीतिक परिदृश्य को पूरी तरह से बदल दिया और क्षेत्र के इतिहास को नई दिशा दी। विभाजन का सबसे तत्काल और भयावह परिणाम व्यापक मानवीय त्रासदी थी। अनुमानित 1.4 करोड़ लोगों को अपना घर छोड़कर पलायन करना पड़ा। मुसलमानों ने भारत से पाकिस्तान की ओर पलायन किया, जबकि हिंदुओं और सिखों ने पाकिस्तान से भारत की ओर। यह प्रवास अक्सर खतरनाक परिस्थितियों में हुआ, जहां लोगों को हिंसक हमलों, बीमारियों और भूख का खतरा था। विभाजन के दौरान हुई हिंसा की भयावहता को शब्दों में व्यक्त करना कठिन है। अनुमानित 5 लाख से 10 लाख लोग मारे गए, जबकि लाखों अन्य लोग घायल हुए या अपाहिज हो गए। सांप्रदायिक दंगों, नरसंहारों और हिंसक हमलों की घटनाएं पंजाब, बंगाल, दिल्ली, बिहार और अन्य क्षेत्रों में व्यापक रूप से हुईं। महिलाओं के साथ विशेष रूप से क्रूरता का व्यवहार किया गया, हजारों महिलाओं का अपहरण किया गया, उनके साथ बलात्कार किया गया और उन्हें अपने परिवारों से अलग कर दिया गया। विभाजन ने दोनों देशों के लिए विशाल शरणार्थी संकट पैदा किया। भारत में, पश्चिमी पंजाब, सिंध और अन्य क्षेत्रों से आए शरणार्थियों को बसाने के लिए नए शहर और कॉलोनियां बनाई गईं। दिल्ली जैसे शहरों का जनसांख्यिकीय और सांस्कृतिक स्वरूप पूरी तरह से बदल गया। पाकिस्तान में भी, मुस्लिम शरणार्थियों (जिन्हें 'मुहाजिर' कहा जाता था) के

पुनर्वास के लिए विभिन्न योजनाएं शुरू की गईं, विशेष रूप से कराची और अन्य शहरों में। विभाजन के परिणामस्वरूप विभाजन के परिणामस्वरूप दोनों देशों के बीच अविश्वास और शत्रुता की गहरी खाई पैदा हुई, जो आज तक बनी हुई है। भारत और पाकिस्तान के बीच कई युद्ध हुए - 1947-48, 1965, 1971 और 1999 (कारगिल युद्ध) - जिनसे दोनों देशों के बीच संबंध और भी बिगड़े। कश्मीर विवाद, जो विभाजन के समय पैदा हुआ, आज भी अनसुलझा है और दक्षिण एशिया में तनाव का प्रमुख स्रोत बना हुआ है।

विभाजन ने दोनों देशों के आर्थिक विकास पर भी गहरा प्रभाव डाला। भारत और पाकिस्तान दोनों को अपनी अर्थव्यवस्थाओं को फिर से व्यवस्थित करना पड़ा, क्योंकि पारंपरिक व्यापार मार्ग बाधित हो गए थे और आर्थिक संबंध टूट गए थे। उदाहरण के लिए, पंजाब का विभाजन, जो एक समृद्ध कृषि क्षेत्र था, ने दोनों देशों की कृषि क्षमता को प्रभावित किया। इसी तरह, बंगाल का विभाजन, जो एक महत्वपूर्ण औद्योगिक और व्यापारिक केंद्र था, ने दोनों देशों के औद्योगिक विकास को प्रभावित किया। विभाजन ने सांस्कृतिक और शैक्षिक क्षेत्रों को भी गहराई से प्रभावित किया। कई प्रसिद्ध विश्वविद्यालय, जैसे लाहौर का पंजाब विश्वविद्यालय और ढाका विश्वविद्यालय, पाकिस्तान में चले गए, जिससे भारत को नए शैक्षिक संस्थान स्थापित करने पड़े। साहित्य, संगीत, कला और अन्य सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों पर भी विभाजन का गहरा प्रभाव पड़ा, जिसे कई कवियों, लेखकों और कलाकारों ने अपने कार्यों में दर्शाया है। विभाजन का एक महत्वपूर्ण राजनीतिक परिणाम भारत के 'धर्मनिरपेक्ष' और पाकिस्तान के 'इस्लामिक' राज्य के रूप में विकास था। भारत ने अपने संविधान में धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांत को अपनाया, जिसमें सभी धर्मों को समान मान्यता और सम्मान दिया गया। दूसरी ओर, पाकिस्तान ने अपनी पहचान को इस्लामिक राज्य के रूप में परिभाषित किया, जहां इस्लाम राज्य धर्म है। इन विपरीत दृष्टिकोणों ने दोनों देशों के राजनीतिक और सामाजिक विकास को विभिन्न दिशाओं में प्रभावित किया। विभाजन ने अल्पसंख्यकों की स्थिति पर भी महत्वपूर्ण प्रभाव डाला। भारत में मुसलमानों और पाकिस्तान में हिंदुओं और सिखों की स्थिति विभाजन के बाद काफी बदल गई। दोनों देशों में अल्पसंख्यक समुदायों को अक्सर शक और भेदभाव का सामना करना पड़ा, हालांकि भारत में धर्मनिरपेक्ष संविधान ने मुसलमानों सहित सभी अल्पसंख्यकों को मौलिक अधिकार प्रदान किए। विभाजन का एक और महत्वपूर्ण परिणाम भारत और पाकिस्तान के बीच हथियारों की होड़ थी, जिसमें दोनों देशों ने अपनी सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए सैन्य क्षमताओं का विस्तार किया। दोनों देशों ने अंततः परमाणु हथियार विकसित किए, जिससे दक्षिण एशिया में भू-राजनीतिक तनाव और बढ़ गया। विभाजन के बावजूद, दोनों देशों के लोगों के बीच सांस्कृतिक और भावनात्मक संबंध बने रहे। साझा इतिहास, भाषा, संगीत, भोजन और परंपराएं लोगों को एक-दूसरे से जोड़ती हैं, भले ही राजनीतिक सीमाएं उन्हें अलग करती हों। कई परिवारों के सदस्य विभाजन के बाद भी दोनों देशों में रहते हैं, और उनके बीच संबंध राजनीतिक तनाव के बावजूद बने रहे हैं। समग्र रूप से, विभाजन ने दक्षिण एशिया के इतिहास



और भूराजनीति को गहराई से प्रभावित किया है, और इसके प्रभाव आज भी महसूस किए जाते हैं। यह एक ऐसी घटना थी जिसने न केवल भारत और पाकिस्तान के बीच राजनीतिक सीमाएं खींचीं, बल्कि लोगों के दिलों और दिमागों में भी विभाजन पैदा किया, जिसे पाटना आज भी एक बड़ी चुनौती है।

स्वतंत्र भारत की चुनौतियाँ: स्वतंत्रता के साथ ही भारत के सामने अनेक चुनौतियाँ थीं। एक ओर जहाँ विभाजन की त्रासदी से निपटना था, वहीं दूसरी ओर एक नए राष्ट्र के निर्माण की विशाल जिम्मेदारी थी। इन चुनौतियों को मोटे तौर पर राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सुरक्षा श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है।

राजनीतिक चुनौतियाँ

स्वतंत्र भारत के सामने सबसे बड़ी राजनीतिक चुनौती थी एक ऐसा संविधान बनाना जो देश की विविधता को समेटे और लोकतांत्रिक मूल्यों को स्थापित करे। 9 दिसंबर, 1946 को संविधान सभा ने अपना कार्य शुरू किया और डॉ. भीमराव अम्बेडकर की अध्यक्षता में संविधान का मसौदा तैयार किया गया। 26 जनवरी, 1950 को भारत का संविधान लागू हुआ और भारत एक संप्रभु, लोकतांत्रिक गणराज्य बन गया। देशी रियासतों का एकीकरण एक अन्य महत्वपूर्ण चुनौती थी। स्वतंत्रता के समय, भारत में 562 देशी रियासतें थीं, जिन्हें भारत या पाकिस्तान में शामिल होने या स्वतंत्र रहने का विकल्प दिया गया था। सरदार वल्लभभाई पटेल ने, जो उस समय गृह मंत्री थे, वी.पी. मेनन की मदद से अधिकांश रियासतों को भारतीय संघ में शामिल करने में सफलता प्राप्त की। हालांकि, जम्मू और कश्मीर, हैदराबाद और जूनागढ़ जैसी कुछ रियासतों के मामले में जटिलताएं उत्पन्न हुईं, जिनका समाधान विभिन्न तरीकों से किया गया। एक अन्य महत्वपूर्ण राजनीतिक चुनौती थी प्रशासनिक व्यवस्था को पुनर्गठित करना। ब्रिटिश शासन के दौरान, प्रशासनिक व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य कानून और व्यवस्था बनाए रखना और राजस्व एकत्र करना था। स्वतंत्रता के बाद, इस व्यवस्था को विकास-उन्मुख और जन-केंद्रित बनाने की आवश्यकता थी। सिविल सेवा और पुलिस जैसी संस्थाओं का पुनर्गठन किया गया ताकि वे नए लोकतांत्रिक भारत की आवश्यकताओं को पूरा कर सकें।

राज्यों का पुनर्गठन भी एक महत्वपूर्ण राजनीतिक चुनौती थी। स्वतंत्रता के समय, भारत में राज्यों का गठन ऐतिहासिक और प्रशासनिक आधार पर किया गया था, न कि भाषाई या सांस्कृतिक आधार पर। इससे विभिन्न क्षेत्रों में असंतोष पैदा हुआ और भाषाई आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की मांग बढ़ने लगी। 1953 में, आंध्र प्रदेश का गठन तेलुगु भाषी क्षेत्रों को मिलाकर किया गया, जो भाषाई आधार पर पहला राज्य था। 1956 में, राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफारिशों के आधार पर राज्यों का व्यापक पुनर्गठन किया गया, जिसमें भाषाई आधार पर 14 राज्य और 6 केंद्र शासित

प्रदेश बनाए गए। अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा और उनका कल्याण सुनिश्चित करना भी एक महत्वपूर्ण राजनीतिक चुनौती थी। विभाजन के बाद, भारत में धार्मिक अल्पसंख्यकों, विशेष रूप से मुसलमानों की स्थिति एक संवेदनशील मुद्दा बन गई थी। भारतीय संविधान ने सभी नागरिकों को धार्मिक स्वतंत्रता और समानता का अधिकार दिया और अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा के लिए विशेष प्रावधान किए। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर, भारत को अपनी विदेश नीति को परिभाषित करने और विश्व राजनीति में अपना स्थान बनाने की चुनौती का सामना करना पड़ा। जवाहरलाल नेहरू ने गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाई, जिसके तहत भारत ने शीत युद्ध के दौरान किसी भी गुट (अमेरिका या सोवियत संघ) का पक्ष नहीं लिया। भारत ने एशिया और अफ्रीका के नवस्वतंत्र देशों के साथ मिलकर गुटनिरपेक्ष आंदोलन (NAM) की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

आर्थिक चुनौतियाँ

स्वतंत्र भारत के सामने सबसे बड़ी आर्थिक चुनौती थी आर्थिक विकास और गरीबी उन्मूलन। ब्रिटिश शासन के दौरान, भारतीय अर्थव्यवस्था का शोषण किया गया था और यह मुख्य रूप से प्राथमिक क्षेत्र (कृषि) पर निर्भर थी। औद्योगिक विकास सीमित था और बुनियादी ढांचा अपर्याप्त था। स्वतंत्रता के समय, अधिकांश भारतीय गरीबी रेखा से नीचे जीवन यापन कर रहे थे। इन चुनौतियों से निपटने के लिए, भारत ने मिश्रित अर्थव्यवस्था का मॉडल अपनाया, जिसमें सार्वजनिक और निजी दोनों क्षेत्रों की भूमिका थी। 1951 में, प्रथम पंचवर्षीय योजना शुरू की गई, जिसका उद्देश्य आर्थिक विकास को बढ़ावा देना और गरीबी कम करना था। इस योजना में कृषि, सिंचाई और बिजली जैसे क्षेत्रों पर जोर दिया गया। द्वितीय पंचवर्षीय योजना (1956-61) में औद्योगिक विकास पर अधिक ध्यान केंद्रित किया गया। इस योजना के तहत, भारत ने भारी उद्योगों जैसे स्टील, मशीनरी और रसायन के विकास पर जोर दिया। इस समय सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों (PSUs) की स्थापना की गई, जैसे भारतीय इस्पात प्राधिकरण (SAIL) और भारतीय तेल निगम (IOC)। कृषि क्षेत्र को आधुनिक बनाना और खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित करना भी एक महत्वपूर्ण आर्थिक चुनौती थी। 1960 के दशक में, हरित क्रांति शुरू की गई, जिसमें उच्च उपज देने वाले बीजों, उर्वरकों और सिंचाई के व्यापक उपयोग पर जोर दिया गया। इससे भारत में खाद्यान्न उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई और देश ने खाद्य आत्मनिर्भरता हासिल की। भूमि सुधार भी एक महत्वपूर्ण आर्थिक चुनौती थी। स्वतंत्रता के समय, भारत में भूमि वितरण असमान था, जिससे बड़े जमींदार और भूमिहीन मजदूरों की एक बड़ी संख्या थी। विभिन्न राज्यों ने जमींदारी प्रथा को समाप्त करने और भूमि सीमा कानून पारित करने जैसे भूमि सुधार किए, जिससे भूमिहीन किसानों को भूमि प्रदान की गई। एक अन्य महत्वपूर्ण आर्थिक चुनौती थी बुनियादी ढांचे का विकास। स्वतंत्रता के समय, भारत में सड़कें, रेलवे, बिजली और संचार जैसे बुनियादी ढांचे अपर्याप्त थे। इन क्षेत्रों में



निवेश करने और बुनियादी ढांचे का विकास करने के लिए बड़े पैमाने पर प्रयास किए गए। भाखड़ा नांगल बांध, हीराकुंड बांध और दामोदर घाटी परियोजना जैसी बड़ी बहुउद्देशीय नदी घाटी परियोजनाएं शुरू की गईं।

सामाजिक चुनौतियाँ

स्वतंत्र भारत के सामने अनेक सामाजिक चुनौतियाँ थीं, जिनमें जातिगत भेदभाव, लिंग असमानता, साक्षरता और शिक्षा की कमी प्रमुख थीं। जातिगत भेदभाव भारतीय समाज में गहराई से जड़ा हुआ था और दलितों और अन्य पिछड़े वर्गों के साथ अक्सर भेदभाव किया जाता था। इन समस्याओं से निपटने के लिए, भारतीय संविधान ने जाति के आधार पर भेदभाव को गैरकानूनी घोषित किया और अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षण की व्यवस्था की। डॉ. भीमराव अम्बेडकर, जो स्वयं एक दलित थे और संविधान के प्रमुख निर्माता थे, ने जाति व्यवस्था के उन्मूलन और दलितों के उत्थान के लिए महत्वपूर्ण योगदान दिया। लिंग असमानता भी एक महत्वपूर्ण सामाजिक चुनौती थी। महिलाओं के साथ अक्सर भेदभाव किया जाता था और उन्हें शिक्षा, स्वास्थ्य सेवा और रोजगार जैसे क्षेत्रों में समान अवसर नहीं मिलते थे। भारतीय संविधान ने महिलाओं को पुरुषों के समान अधिकार दिए और लिंग के आधार पर भेदभाव को गैरकानूनी घोषित किया। विभिन्न कानून पारित किए गए जैसे हिंदू विवाह अधिनियम (1955) और हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम (1956), जिन्होंने महिलाओं को विवाह, तलाक और संपत्ति के अधिकारों के मामले में अधिक अधिकार दिए। साक्षरता और शिक्षा की कमी एक अन्य महत्वपूर्ण सामाजिक चुनौती थी। स्वतंत्रता के समय, भारत की साक्षरता दर केवल 12% थी। इस समस्या से निपटने के लिए, सरकार ने प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षा के विस्तार पर जोर दिया।

भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान (IITs), भारतीय प्रबंधन संस्थान (IIMs) और अन्य प्रतिष्ठित शैक्षिक संस्थानों की स्थापना की गई। 1986 में, राष्ट्रीय शिक्षा नीति को अपनाया गया, जिसमें सार्वभौमिक प्राथमिक शिक्षा और वयस्क साक्षरता पर जोर दिया गया। धार्मिक और सांप्रदायिक सन्द्वाद बनाए रखना भी एक महत्वपूर्ण सामाजिक चुनौती थी। विभाजन के बाद, देश में धार्मिक तनाव बढ़ गया था और कई स्थानों पर सांप्रदायिक दंगे हुए थे। भारतीय संविधान ने धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांत को अपनाया और सभी नागरिकों को धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार दिया। धार्मिक और सांप्रदायिक सन्द्वाद बनाए रखने के लिए विभिन्न उपाय किए गए, जैसे सभी धर्मों के त्योहारों को राष्ट्रीय अवकाश के रूप में मान्यता देना और धार्मिक अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा के लिए विशेष प्रावधान करना। जनसंख्या वृद्धि भी एक महत्वपूर्ण सामाजिक चुनौती थी। स्वतंत्रता के बाद, भारत की जनसंख्या तेजी से बढ़ने लगी, जिससे संसाधनों पर दबाव बढ़ गया और विकास प्रयासों में बाधा आई। 1952 में, भारत ने दुनिया का पहला राष्ट्रीय परिवार नियोजन कार्यक्रम शुरू किया, जिसका उद्देश्य जनसंख्या वृद्धि को नियंत्रित करना था।

सुरक्षा चुनौतियाँ

स्वतंत्र भारत के सामने अनेक सुरक्षा चुनौतियाँ थीं, जिनमें पाकिस्तान और चीन जैसे पड़ोसी देशों से सीमा विवाद, आंतरिक सुरक्षा की समस्याएं और सैन्य क्षमताओं का निर्माण शामिल था। पाकिस्तान के साथ संबंध विभाजन के बाद से ही तनावपूर्ण रहे हैं। 1947-48 में, भारत और पाकिस्तान के बीच कश्मीर को लेकर पहला युद्ध हुआ, जिसके परिणामस्वरूप कश्मीर का एक बड़ा हिस्सा पाकिस्तान के कब्जे में आ गया, जिसे 'पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर' (PoK) के नाम से जाना जाता है। इसके बाद, 1965 और 1971 में भी दोनों देशों के बीच युद्ध हुए। चीन के साथ सीमा विवाद भी एक महत्वपूर्ण सुरक्षा चुनौती थी। 1962 में, भारत और चीन के बीच युद्ध हुआ, जिसमें भारत को हार का सामना करना पड़ा और चीन ने अक्सई चिन क्षेत्र पर कब्जा कर लिया। इस युद्ध ने भारत की सुरक्षा नीति को गहराई से प्रभावित किया और देश को अपनी सैन्य क्षमताओं को मजबूत करने के लिए प्रेरित किया। आंतरिक सुरक्षा की समस्याएं भी एक महत्वपूर्ण चुनौती थीं। पूर्वोत्तर भारत में, नागा, मिजो और अन्य जनजातियों ने स्वतंत्रता की मांग की, जिससे इन क्षेत्रों में हिंसा और अस्थिरता पैदा हुई। इसी तरह, कश्मीर घाटी में भी अलगाववादी आंदोलन चल रहा था। कम्युनिस्ट विद्रोह, विशेष रूप से नक्सलवाद, भी एक महत्वपूर्ण आंतरिक सुरक्षा चुनौती थी। इन सुरक्षा चुनौतियों से निपटने के लिए, भारत ने अपनी सैन्य क्षमताओं को मजबूत किया और सुरक्षा बलों का विस्तार किया। भारतीय सेना, नौसेना और वायु सेना का आधुनिकीकरण किया गया और नए हथियारों और उपकरणों से लैस किया गया। 1974 में, भारत ने अपना पहला परमाणु परीक्षण किया, जिसे 'स्माइलिंग बुद्ध' के नाम से जाना जाता है, और 1998 में पोखरण-II परीक्षणों के साथ एक घोषित परमाणु शक्ति बन गया।

स्वतंत्र भारत की उपलब्धियां

अनेक चुनौतियों के बावजूद, स्वतंत्र भारत ने कई महत्वपूर्ण उपलब्धियां हासिल कीं, जिन्होंने देश को एक मजबूत और विकसित राष्ट्र के रूप में स्थापित किया। राजनीतिक स्थिरता और लोकतंत्र की स्थापना भारत की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धियों में से एक थी। 26 जनवरी, 1950 को, भारत ने अपना संविधान अपनाया और एक संप्रभु, लोकतांत्रिक गणराज्य बन गया।

बहुविकल्पीय प्रश्न (MCQs)

1. नौसेना विद्रोह कब शुरू हुआ था?

- a) 18 फरवरी 1946
- b) 23 मार्च 1946
- c) 9 अगस्त 1945
- d) 16 अगस्त 1946



2. कैबिनेट मिशन योजना किस वर्ष प्रस्तुत की गई थी?
 - a) 1945
 - b) 1946
 - c) 1947
 - d) 1948
3. डायरेक्ट एक्शन डे की घोषणा किस नेता ने की थी?
 - a) महात्मा गांधी
 - b) जवाहरलाल नेहरू
 - c) सरदार पटेल
 - d) मोहम्मद अली जिन्ना
4. भारत के विभाजन की अंतिम योजना किस घोषणा के तहत प्रस्तुत की गई थी?
 - a) क्रिप्स मिशन
 - b) कैबिनेट मिशन
 - c) माउंटबेटन योजना
 - d) वेवेल योजना
5. भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना किस वर्ष हुई थी?
 - a) 1920
 - b) 1925
 - c) 1935
 - d) 1940
6. 'कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी' के संस्थापकों में से कौन शामिल नहीं था?
 - a) आचार्य नरेंद्र देव
 - b) जयप्रकाश नारायण
 - c) राममनोहर लोहिया
 - d) एम.एन. रॉय
7. 1946 में अंतरिम सरकार के प्रधानमंत्री कौन बने?
 - a) मोहम्मद अली जिन्ना
 - b) लॉर्ड माउंटबेटन

- c) क्लेमेंट एटली
- d) जवाहरलाल नेहरू
8. वायसराय लॉर्ड माउंटबेटन ने भारत विभाजन की योजना किस तारीख को घोषित की थी?
- a) 3 जून 1947
- b) 14 अगस्त 1947
- c) 15 अगस्त 1947
- d) 26 जनवरी 1948
9. आज़ाद हिंद फौज (INA) के त्रिकोणीय मुकदमे में शामिल अधिकारी कौन थे?
- a) सुभाष चंद्र बोस, कप्तान शाहनवाज, कप्तान धिल्लों
- b) कप्तान शाहनवाज, कप्तान धिल्लों, कप्तान सहगल
- c) सुभाष चंद्र बोस, कप्तान सहगल, कप्तान धिल्लों
- d) कप्तान राष्ट्रपति, कप्तान शाहनवाज, कप्तान सहगल
10. 'आज़ाद हिंद फौज मुकदमा' का बचाव किसने किया था?
- a) जवाहरलाल नेहरू, भूलाभाई देसाई, तेज बहादुर सप्रू
- b) महात्मा गांधी, सरदार पटेल, राजेंद्र प्रसाद
- c) सी.आर. दास, मोतीलाल नेहरू, मोहम्मद अली जिन्ना
- d) सुभाष चंद्र बोस, रासबिहारी बोस, प्रीतम सिंह

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. 1945-47 के मध्य हुए नौसेना विद्रोह के कारण और परिणाम बताइए।
2. कैबिनेट मिशन योजना की मुख्य विशेषताओं का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
3. 'डायरेक्ट एक्शन डे' क्या था? इसके परिणामों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
4. आज़ाद हिंद फौज मुकदमों का भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन पर क्या प्रभाव पड़ा?
5. भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में समाजवादी विचारधारा के उदय के कारण बताइए।
6. कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के मुख्य सिद्धांतों और उद्देश्यों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
7. माउंटबेटन योजना की प्रमुख विशेषताएँ क्या थीं?
8. भारत के विभाजन के तत्कालिक कारणों का संक्षिप्त विवरण दीजिए।



9. स्वतंत्रता के समय भारत के समक्ष प्रमुख चुनौतियाँ क्या थीं?
10. स्वतंत्र भारत में रियासतों के एकीकरण की प्रक्रिया पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. 1945-47 के मध्य हुए जन-आंदोलनों (नौसेना विद्रोह, आजाद हिंद फौज मुकदमे, प्रांतीय विद्रोह) का विस्तृत विश्लेषण कीजिए। इन आंदोलनों ने स्वतंत्रता प्राप्ति की प्रक्रिया को किस प्रकार प्रभावित किया?
2. द्वितीय विश्व युद्ध के बाद भारत में राजनीतिक परिस्थितियों का विस्तृत वर्णन कीजिए। 1945-47 की अवधि में ब्रिटिश नीतियों का मूल्यांकन कीजिए।
3. कैबिनेट मिशन योजना की पृष्ठभूमि, प्रमुख प्रावधानों और विफलता के कारणों का विस्तृत विवेचन कीजिए।
4. "डायरेक्ट एक्शन डे और उसके बाद हुए सांप्रदायिक दंगों ने भारत के विभाजन को अनिवार्य बना दिया।" इस कथन का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
5. भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में समाजवादी विचारधारा के विकास का विस्तृत विश्लेषण कीजिए। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी और अन्य वामपंथी संगठनों के योगदान पर प्रकाश डालिए।
6. स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत के समक्ष आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक चुनौतियों का विस्तृत विश्लेषण कीजिए। इन चुनौतियों से निपटने के लिए क्या कदम उठाए गए?
7. "भारत का विभाजन अपरिहार्य नहीं था।" इस कथन का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। विभाजन के लिए उत्तरदायी विभिन्न कारकों का विश्लेषण करें।
8. माउंटबेटन योजना की पृष्ठभूमि, प्रमुख प्रावधानों और भारत के विभाजन पर इसके प्रभावों का विस्तृत विवेचन कीजिए।
9. स्वतंत्र भारत में रियासतों के एकीकरण की समस्या और प्रक्रिया का विस्तृत विश्लेषण कीजिए। सरदार पटेल और वी.पी. मेनन के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।
10. "राष्ट्रीय आंदोलन के अंतिम चरण में गांधीवादी विचारधारा और कार्यपद्धति की प्रासंगिकता कम हो गई थी।" इस कथन का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

मॉड्यूल 4

राष्ट्रवाद एवं सामाजिक वर्ग

उद्देश्य

1. भू-स्वामी, पेशेवर और मध्य वर्ग की भूमिका को समझना।
2. किसानों और श्रमिक वर्ग की भागीदारी का अध्ययन करना।
3. जनजातीय समुदायों और उनके विद्रोहों का मूल्यांकन करना।
4. भारत में दलित आंदोलन के विकास की समझ।
5. विभिन्न सामाजिक वर्गों की राष्ट्रवाद में भूमिका को समग्र रूप से समझना।

इकाई 23: भू-स्वामी, पेशेवर और मध्य वर्ग

भारतीय समाज में भू-स्वामी, पेशेवर और मध्य वर्ग की भूमिका ऐतिहासिक रूप से महत्वपूर्ण रही है। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक युग तक, इन वर्गों ने समाज के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक ढांचे को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। भू-स्वामी वर्ग ने सदियों से भूमि के मालिक के रूप में अपना वर्चस्व कायम रखा, जबकि पेशेवर वर्ग ने विशेष ज्ञान और कौशल के आधार पर अपनी पहचान स्थापित की। वहीं, आधुनिक युग में मध्य वर्ग का उदय और विस्तार भारतीय समाज के लिए एक महत्वपूर्ण परिवर्तन का सूचक बना। इस इकाई में, हम इन तीनों वर्गों के ऐतिहासिक विकास, उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति, और भारतीय समाज पर उनके प्रभाव का विस्तार से अध्ययन करेंगे।

भू-स्वामी वर्ग: ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

भारतीय इतिहास में भू-स्वामित्व की परंपरा प्राचीन काल से चली आ रही है। वैदिक काल में, भूमि पर सामूहिक अधिकार होता था, और ग्राम समुदाय ही भूमि का प्रबंधन करता था। कालांतर में, राजाओं और सामंतों के उदय के साथ, भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व की अवधारणा विकसित हुई। गुप्त काल के दौरान, राजा अपने सेनापतियों, धार्मिक नेताओं और अधिकारियों को भूमि दान के रूप में देते थे, जिससे एक नए भू-स्वामी वर्ग का उदय हुआ। इस प्रथा को 'जागीरदारी प्रथा' के नाम से जाना जाता था, और यह मध्यकालीन भारत में व्यापक रूप से प्रचलित थी। मध्यकालीन भारत में, भू-स्वामित्व सामाजिक प्रतिष्ठा और शक्ति का प्रमुख स्रोत बन गया। मुगल काल में, जमींदारी प्रथा का विस्तार हुआ, जिसमें जमींदार भू-राजस्व संग्रहकर्ता के रूप में कार्य करते थे। वे किसानों से कर वसूलते थे और उसका एक हिस्सा राज्य को देते थे। इस व्यवस्था ने जमींदारों को अत्यधिक शक्ति और सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान की। वे न केवल आर्थिक रूप से संपन्न थे, बल्कि ग्रामीण क्षेत्रों में सामाजिक और राजनीतिक मामलों में भी अपना वर्चस्व कायम रखते थे। ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन ने भारत में भू-स्वामित्व के पारंपरिक ढांचे में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए। 1793 में लॉर्ड कॉर्नवालिस द्वारा बंगाल में स्थायी बंदोबस्त की स्थापना के साथ,



जमींदारों को भूमि का स्थायी मालिक बना दिया गया। इस नीति का उद्देश्य भू-राजस्व का निरंतर प्रवाह सुनिश्चित करना और ब्रिटिश शासन के प्रति वफादार जमींदार वर्ग का निर्माण करना था। इस व्यवस्था ने जमींदारों की स्थिति और मजबूत कर दी, जबकि किसानों और खेतिहर मजदूरों की स्थिति दयनीय होती गई।

भारत के अन्य हिस्सों में, ब्रिटिश सरकार ने विभिन्न भू-राजस्व व्यवस्थाएं लागू कीं। मद्रास और बॉम्बे में रैयतवाड़ी व्यवस्था लागू की गई, जिसमें किसानों को सीधे भूमि का मालिक माना गया और उन्हें सरकार को कर देना पड़ता था। उत्तर प्रदेश, पंजाब और मध्य प्रदेश के कुछ हिस्सों में महालवाड़ी व्यवस्था लागू की गई, जिसमें पूरे गांव को एक इकाई माना जाता था और भू-राजस्व की जिम्मेदारी संयुक्त रूप से गांव पर थी। इन विभिन्न व्यवस्थाओं के बावजूद, भू-स्वामी वर्ग ने औपनिवेशिक काल में भी अपनी शक्ति और प्रभाव कायम रखा। स्वतंत्रता के बाद, भारत सरकार ने भूमि सुधार के कई कार्यक्रम शुरू किए, जिनका उद्देश्य जमींदारी प्रथा को समाप्त करना और भूमि का अधिक न्यायसंगत वितरण सुनिश्चित करना था। 1950 के दशक में, विभिन्न राज्यों ने जमींदारी उन्मूलन अधिनियम पारित किए, जिसके तहत बड़े जमींदारों की अतिरिक्त भूमि को जब्त कर लिया गया और उसे भूमिहीन किसानों में पुनर्वितरित किया गया। हालांकि, इन सुधारों का क्रियान्वयन अलग-अलग राज्यों में भिन्न-भिन्न रहा, और कई क्षेत्रों में बड़े भू-स्वामियों ने विभिन्न तरीकों से कानून का उल्लंघन कर अपनी भूमि बचाए रखी। अभी भी भारत के कई ग्रामीण क्षेत्रों में, भू-स्वामित्व सामाजिक प्रतिष्ठा और शक्ति का प्रमुख स्रोत बना हुआ है। हालांकि, आर्थिक उदारीकरण और शहरीकरण के बढ़ते प्रभाव के कारण, पारंपरिक भू-स्वामी वर्ग की सामाजिक-आर्थिक स्थिति में धीरे-धीरे परिवर्तन हो रहा है। कई भू-स्वामी परिवारों ने अपने बच्चों को उच्च शिक्षा दिलाई है, जिससे वे विभिन्न पेशेवर क्षेत्रों में प्रवेश कर सके हैं। इसके अलावा, बड़े शहरों के पास स्थित भूमि के मूल्य में वृद्धि ने भी कई भू-स्वामियों को उनकी भूमि को रियल एस्टेट विकास के लिए बेचने के लिए प्रेरित किया है, जिससे उनकी आर्थिक स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन आया है।

भू-स्वामी वर्ग: समकालीन परिदृश्य

वर्तमान भारत में, भू-स्वामी वर्ग की स्थिति और भूमिका में महत्वपूर्ण परिवर्तन आए हैं। एक ओर, पारंपरिक बड़े जमींदारों की संख्या और प्रभाव में कमी आई है, दूसरी ओर, नए प्रकार के भू-स्वामी उभरे हैं, जो कृषि के आधुनिकीकरण, व्यावसायिक खेती, और भूमि के वाणिज्यिक उपयोग में संलग्न हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में, मध्यम आकार के किसान भी अब भू-स्वामी वर्ग का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बन गए हैं, जो आधुनिक कृषि तकनीकों का उपयोग करके अधिक उत्पादकता और आय प्राप्त कर रहे हैं। आर्थिक उदारीकरण के बाद से, विशेष रूप से शहरी और अर्ध-शहरी क्षेत्रों में, भूमि का मूल्य तेजी से बढ़ा है, जिससे भू-स्वामियों को अपनी भूमि को बेचकर भारी मुनाफा कमाने का अवसर मिला है। इसके परिणामस्वरूप, कई पारंपरिक भू-स्वामी

परिवारों ने अपनी भूमि को रियल एस्टेट डेवलपर्स को बेच दिया है और अपने निवेश को विविधीकृत किया है। इस प्रकार, आधुनिक भारत में भू-स्वामी वर्ग कृषि उत्पादन से अधिक रियल एस्टेट, व्यापार, और अन्य व्यावसायिक गतिविधियों से जुड़ा जा रहा है। हालांकि, यह भी उल्लेखनीय है कि भारत के विभिन्न राज्यों और क्षेत्रों में भू-स्वामी वर्ग की स्थिति और प्रकृति में महत्वपूर्ण भिन्नताएं हैं। पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश जैसे कृषि रूप से विकसित क्षेत्रों में, हरित क्रांति के परिणामस्वरूप, मध्यम और बड़े किसानों का एक संपन्न वर्ग उभरा है, जो आधुनिक कृषि तकनीकों का उपयोग करता है और राजनीतिक रूप से भी सक्रिय है। इन क्षेत्रों में, किसान संगठन राज्य और केंद्र सरकार की नीतियों को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। बिहार, उत्तर प्रदेश के पूर्वी हिस्से, और पश्चिम बंगाल जैसे कुछ अन्य क्षेत्रों में, भूमि सुधारों के बावजूद, भूमि का वितरण अभी भी काफी असमान है, और बड़े भू-स्वामियों का प्रभाव ग्रामीण समाज और राजनीति पर बना हुआ है। इन क्षेत्रों में, जाति और वर्ग के बीच संबंध अभी भी भूमि स्वामित्व से गहराई से जुड़े हुए हैं, और उच्च जातियों के परिवार अक्सर बड़े भू-स्वामियों के रूप में हावी हैं। दक्षिण भारत में, विशेष रूप से केरल और तमिलनाडु में, भूमि सुधारों का क्रियान्वयन अधिक प्रभावी रहा है, जिसके परिणामस्वरूप भूमि का अधिक समान वितरण हुआ है। इन राज्यों में, छोटे और मध्यम आकार के किसानों की संख्या अधिक है, और वे अपेक्षाकृत अधिक संगठित और राजनीतिक रूप से सशक्त हैं।

पूर्वोत्तर भारत में, आदिवासी समुदायों में परंपरागत रूप से भूमि पर सामुदायिक स्वामित्व की प्रथा रही है, हालांकि हाल के दशकों में इस व्यवस्था में भी परिवर्तन आए हैं। आधुनिकीकरण और बाजार अर्थव्यवस्था के प्रभाव के कारण, कुछ क्षेत्रों में भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व की प्रवृत्ति बढ़ रही है, जिससे आदिवासी समुदायों के भीतर भी भू-स्वामी वर्ग का उदय हो रहा है। शहरी और अर्ध-शहरी क्षेत्रों में, भूमि का मूल्य तेजी से बढ़ने के कारण, एक नए प्रकार के भू-स्वामी वर्ग का उदय हुआ है, जिसमें रियल एस्टेट डेवलपर्स, बिल्डर्स, और निवेशक शामिल हैं। ये नए भू-स्वामी न केवल आर्थिक रूप से शक्तिशाली हैं, बल्कि राजनीतिक और प्रशासनिक क्षेत्रों में भी अपना प्रभाव रखते हैं। शहरी विकास, भूमि उपयोग नियमों, और रियल एस्टेट से संबंधित नीतियों पर इनका महत्वपूर्ण प्रभाव है। वर्तमान में, भारत में भूमि अधिग्रहण और विकास के मुद्दे अक्सर विवादों का केंद्र बनते हैं। सरकार द्वारा औद्योगिक, अवसंरचनात्मक, या शहरी विकास परियोजनाओं के लिए भूमि अधिग्रहण के प्रयासों का अक्सर स्थानीय किसानों और भू-स्वामियों द्वारा विरोध किया जाता है। इन विवादों के केंद्र में अक्सर मुआवजा, पुनर्वास, और आजीविका के मुद्दे होते हैं। हाल के वर्षों में, किसान आंदोलनों ने इन मुद्दों पर सरकार और नीति निर्माताओं का ध्यान आकर्षित किया है, जिसके परिणामस्वरूप भूमि अधिग्रहण और मुआवजे के नियमों में कुछ सुधार हुए हैं। वर्तमान में सवाल यह भी उठ रहा है कि क्या भारत में भू-स्वामित्व का परंपरागत महत्व धीरे-धीरे कम हो रहा है। शहरीकरण, औद्योगिकीकरण, और सेवा क्षेत्र के विकास के



साथ, आय और सामाजिक प्रतिष्ठा के नए स्रोत उभर रहे हैं। विशेष रूप से युवा पीढ़ी के लिए, शिक्षा, पेशेवर योग्यता, और आय के स्तर ने भूमि स्वामित्व से अधिक महत्व प्राप्त कर लिया है। फिर भी, ग्रामीण भारत में, भूमि अभी भी आर्थिक सुरक्षा और सामाजिक प्रतिष्ठा का एक महत्वपूर्ण स्रोत है, और भू-स्वामी वर्ग ग्रामीण समाज और राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

पेशेवर वर्ग: उद्भव और विकास

पेशेवर वर्ग का उद्भव और विकास भारत के आधुनिकीकरण और औपनिवेशिक अनुभव से गहराई से जुड़ा हुआ है। प्राचीन और मध्यकालीन भारत में, विशिष्ट ज्ञान और कौशल पर आधारित व्यवसाय अक्सर जाति व्यवस्था के अंतर्गत संगठित थे। विभिन्न जातियों के लोग विशिष्ट पेशों में संलग्न थे, जैसे ब्राह्मण धार्मिक कर्मकांड और शिक्षा में, क्षत्रिय युद्ध और शासन में, वैश्य व्यापार और वाणिज्य में, और शूद्र कृषि और अन्य श्रम-आधारित कार्यों में। इस प्रकार, पेशेवर विशेषज्ञता जाति पहचान से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई थी। आधुनिक अर्थ में पेशेवर वर्ग का उदय ब्रिटिश औपनिवेशिक काल के दौरान हुआ, जब पश्चिमी शिक्षा प्रणाली की शुरुआत हुई और प्रशासनिक, कानूनी, और चिकित्सा जैसे क्षेत्रों में नए प्रकार के पेशों का विकास हुआ। 1835 में मैकाले के मिनट के बाद, अंग्रेजी माध्यम की शिक्षा का प्रसार हुआ, जिसका उद्देश्य ब्रिटिश प्रशासन के लिए क्लर्क और अधिकारी तैयार करना था। इस शिक्षा प्रणाली ने भारतीय समाज में एक नए प्रकार के बुद्धिजीवी वर्ग को जन्म दिया, जो पश्चिमी शिक्षा में प्रशिक्षित था और औपनिवेशिक प्रशासन में नौकरशाही की भूमिका निभाता था। 19वीं सदी के अंत और 20वीं सदी की शुरुआत में, भारत में कई मेडिकल कॉलेज, इंजीनियरिंग कॉलेज, और कानून स्कूल स्थापित किए गए, जिन्होंने डॉक्टरों, इंजीनियरों, और वकीलों जैसे पेशेवरों की एक नई पीढ़ी को प्रशिक्षित किया। ये पेशेवर न केवल औपनिवेशिक प्रशासन में काम करते थे, बल्कि स्वतंत्र प्रैक्टिस भी करते थे और धीरे-धीरे सामाजिक और राजनीतिक मामलों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगे। वास्तव में, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के कई प्रमुख नेता, जैसे महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, और डॉ. बी.आर. अंबेडकर, पेशेवर शिक्षा प्राप्त व्यक्ति थे, जिन्होंने अपने ज्ञान और कौशल का उपयोग राष्ट्रीय आंदोलन को आकार देने के लिए किया।

स्वतंत्रता के बाद, भारत के विकास और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में पेशेवर वर्ग की भूमिका और महत्वपूर्ण हो गई। नेहरू के नेतृत्व में, भारत ने "वैज्ञानिक स्वभाव" और औद्योगिक विकास पर जोर दिया, जिसके लिए प्रशिक्षित पेशेवरों की आवश्यकता थी। इस अवधि में, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान (IITs), भारतीय प्रबंधन संस्थान (IIMs), और अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान (AIIMS) जैसे प्रतिष्ठित संस्थानों की स्थापना की गई, जिन्होंने उच्च योग्य पेशेवरों को तैयार करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1970 और 1980 के दशक में, भारत में पेशेवर वर्ग का

विस्तार हुआ, लेकिन यह अभी भी मुख्य रूप से सरकारी नौकरियों और सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों तक सीमित था। हालांकि, 1991 के आर्थिक सुधारों के बाद, निजी क्षेत्र का तेजी से विकास हुआ, जिसने पेशेवरों के लिए नए अवसर पैदा किए। सूचना प्रौद्योगिकी, दूरसंचार, बैंकिंग और वित्त, मीडिया, और विज्ञापन जैसे क्षेत्रों में नए प्रकार के पेशेवर पदों का सृजन हुआ, जिन्होंने भारतीय पेशेवर वर्ग के आकार और प्रकृति को महत्वपूर्ण रूप से बदल दिया। 21वीं सदी में, भारत में पेशेवर वर्ग न केवल संख्या में बढ़ा है, बल्कि इसकी विविधता और प्रभाव भी बढ़ा है। आज, भारतीय पेशेवर न केवल देश में बल्कि विदेशों में भी महत्वपूर्ण पदों पर कार्यरत हैं। विशेष रूप से सूचना प्रौद्योगिकी, इंजीनियरिंग, चिकित्सा, वित्त, और प्रबंधन के क्षेत्रों में, भारतीय पेशेवरों ने वैश्विक स्तर पर अपनी पहचान बनाई है। इसके अलावा, पेशेवर शिक्षा तक पहुंच में भी विस्तार हुआ है, और अब यह केवल उच्च जाति या धनी परिवारों तक सीमित नहीं है, बल्कि समाज के विभिन्न वर्गों और जातियों के लोग भी पेशेवर शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं।

पेशेवर वर्ग: समकालीन परिदृश्य

वर्तमान भारत में, पेशेवर वर्ग की स्थिति और भूमिका में महत्वपूर्ण परिवर्तन आए हैं। वैश्वीकरण, आर्थिक उदारीकरण, और डिजिटल क्रांति के प्रभाव से, पेशेवर वर्ग न केवल संख्या में बढ़ा है, बल्कि इसकी प्रकृति और कार्यक्षेत्र में भी विविधता आई है। आज, भारतीय पेशेवर वर्ग में परंपरागत पेशेवरों जैसे डॉक्टर, वकील, इंजीनियर, और शिक्षक के अलावा, सॉफ्टवेयर डेवलपर्स, डेटा साइंटिस्ट, डिजिटल मार्केटिंग विशेषज्ञ, फिनटेक प्रोफेशनल्स, और स्टार्टअप उद्यमी जैसे नए प्रकार के पेशेवर भी शामिल हैं। भारत में पेशेवर वर्ग की एक महत्वपूर्ण विशेषता इसकी वैश्विक गतिशीलता है। अनेक भारतीय पेशेवर अब वैश्विक कंपनियों में काम करते हैं, चाहे वे भारत में स्थित हों या विदेशों में। सूचना प्रौद्योगिकी और व्यापार प्रक्रिया आउटसोर्सिंग (BPO) उद्योगों ने भारतीय पेशेवरों को वैश्विक ग्राहकों के साथ काम करने और अंतरराष्ट्रीय मानकों और प्रथाओं को अपनाने का अवसर प्रदान किया है।

पेशेवर वर्ग: समकालीन परिदृश्य (जारी)

भारत में पेशेवर वर्ग की एक महत्वपूर्ण विशेषता इसकी वैश्विक गतिशीलता है। अनेक भारतीय पेशेवर अब वैश्विक कंपनियों में काम करते हैं, चाहे वे भारत में स्थित हों या विदेशों में। सूचना प्रौद्योगिकी और व्यापार प्रक्रिया आउटसोर्सिंग (BPO) उद्योगों ने भारतीय पेशेवरों को वैश्विक ग्राहकों के साथ काम करने और अंतरराष्ट्रीय मानकों और प्रथाओं को अपनाने का अवसर प्रदान किया है। इसके अलावा, अमेरिका, ब्रिटेन, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया, और दुबई जैसे देशों में बड़ी संख्या में भारतीय पेशेवर कार्यरत हैं, जिन्होंने वहां की अर्थव्यवस्था और समाज में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इस प्रकार, भारतीय पेशेवर वर्ग अब एक वैश्विक परिघटना बन गया है, जिसका प्रभाव सिर्फ भारत तक ही सीमित नहीं है। हालांकि, भारत में पेशेवर वर्ग की स्थिति और अनुभव



में क्षेत्रीय, जातीय, और वर्गीय असमानताएं भी मौजूद हैं। प्रतिष्ठित संस्थानों जैसे IITs, IIMs, AIIMS, या NLUs में प्रवेश पाने और उच्च-वेतन वाले पेशेवर पदों तक पहुंचने के अवसर अभी भी महानगरीय शहरों के अंग्रेजी-भाषी, उच्च-मध्यम वर्गीय परिवारों के लिए अधिक सुलभ हैं। ग्रामीण क्षेत्रों और छोटे शहरों से आने वाले छात्रों को अक्सर भाषा, सांस्कृतिक, और आर्थिक बाधाओं का सामना करना पड़ता है, जो उनके पेशेवर विकास को प्रभावित करती हैं। इसके अलावा, पेशेवर क्षेत्र में जातीय और लिंग आधारित भेदभाव के मुद्दे भी मौजूद हैं। अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, और अन्य पिछड़ा वर्ग के पेशेवरों को अक्सर कार्यस्थल पर भेदभाव का सामना करना पड़ता है, और वे अपने करियर में नेटवर्किंग और मेंटरशिप जैसे अवसरों से वंचित रह जाते हैं। इसी प्रकार, महिला पेशेवरों को भी अपने करियर में कई चुनौतियों का सामना करना पड़ता है, जैसे कार्य-जीवन संतुलन, गैर-समावेशी कार्य संस्कृति, और लिंग आधारित वेतन अंतर। फिर भी, हाल के वर्षों में, इन असमानताओं को संबोधित करने के लिए विभिन्न प्रयास किए गए हैं। सरकारी नीतियों, कॉर्पोरेट पहलों, और सामाजिक आंदोलनों ने पेशेवर क्षेत्र में अधिक समावेशिता और विविधता को बढ़ावा देने का प्रयास किया है। शैक्षणिक संस्थानों में आरक्षण नीति, विभिन्न सरकारी छात्रवृत्ति योजनाएं, और निजी क्षेत्र में विविधता और समावेशन कार्यक्रम इस दिशा में कुछ महत्वपूर्ण कदम हैं।

पेशेवर वर्ग की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि वे अक्सर अपने पेशेवर क्षेत्र के आधार पर सामूहिक पहचान और हित विकसित करते हैं। भारत में डॉक्टरों, वकीलों, इंजीनियरों, शिक्षकों, और अन्य पेशेवरों के अनेक संघ और संगठन हैं, जो अपने सदस्यों के हितों की रक्षा करते हैं और सरकारी नीतियों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। ये संगठन न केवल अपने सदस्यों के पेशेवर हितों की सुरक्षा करते हैं, बल्कि अपने क्षेत्र से संबंधित सामाजिक और नैतिक मुद्दों पर भी अपनी राय रखते हैं। आधुनिक भारत में, पेशेवर वर्ग की राजनीतिक भूमिका भी महत्वपूर्ण हो गई है। कई पेशेवर अब सक्रिय रूप से राजनीति में भाग लेते हैं, या तो राजनीतिक दलों में शामिल होकर या नागरिक समाज संगठनों के माध्यम से। इसके अलावा, सोशल मीडिया और डिजिटल प्लेटफॉर्मों ने पेशेवरों को सार्वजनिक बहस में अपने विचार व्यक्त करने और नीति निर्माण प्रक्रिया को प्रभावित करने का अवसर प्रदान किया है। वर्तमान में, भारत में पेशेवर वर्ग के सामने कई चुनौतियां और अवसर हैं। एक ओर, तकनीकी परिवर्तन, विशेष रूप से कृत्रिम बुद्धिमत्ता और स्वचालन, कई पारंपरिक पेशेवर भूमिकाओं के लिए चुनौती पेश कर रहे हैं। दूसरी ओर, ये परिवर्तन नए प्रकार के पेशेवर अवसर भी पैदा कर रहे हैं, जिनके लिए नए कौशल और क्षमताओं की आवश्यकता है। इस परिदृश्य में, निरंतर सीखने और अपने कौशल को अपडेट करने की क्षमता पेशेवर सफलता के लिए महत्वपूर्ण हो गई है। इसके अलावा, COVID-19 महामारी ने पेशेवर काम की प्रकृति को महत्वपूर्ण रूप से बदल दिया है, जिससे रिमोट वर्क, हाइब्रिड कार्य व्यवस्था, और डिजिटल सहयोग के नए तरीकों का उदय हुआ है। ये परिवर्तन पेशेवरों के लिए

अधिक लचीलापन और कार्य-जीवन संतुलन का अवसर प्रदान करते हैं, लेकिन साथ ही नई चुनौतियां भी पेश करते हैं, जैसे डिजिटल विभाजन, कार्य और व्यक्तिगत जीवन के बीच सीमाओं का धुंधला होना, और सामाजिक अलगाव। समग्र रूप से, आधुनिक भारत में पेशेवर वर्ग एक गतिशील और विविध समूह है, जो देश के आर्थिक, सामाजिक, और राजनीतिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह वर्ग निरंतर विकसित हो रहा है, और इसकी भूमिका और प्रभाव प्रौद्योगिकी, वैश्वीकरण, और सामाजिक परिवर्तन के प्रभाव में बदल रहा है।

मध्य वर्ग: ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

भारतीय समाज में मध्य वर्ग की अवधारणा और उसका विकास एक जटिल और रोचक इतिहास रखता है। परंपरागत भारतीय समाज मुख्य रूप से जाति व्यवस्था पर आधारित था, जिसमें सामाजिक स्तरीकरण जन्म पर आधारित था, और आधुनिक अर्थों में "मध्य वर्ग" की अवधारणा अनुपस्थित थी। हालांकि, मध्यकालीन भारत में, विशेष रूप से शहरी क्षेत्रों में, व्यापारियों, कारीगरों, और प्रशासनिक अधिकारियों का एक वर्ग मौजूद था, जिसे आधुनिक मध्य वर्ग का पूर्वगामी माना जा सकता है। आधुनिक अर्थों में भारतीय मध्य वर्ग का उदय ब्रिटिश औपनिवेशिक काल में हुआ। ब्रिटिश शासन ने भारत में पश्चिमी शिक्षा प्रणाली, नौकरशाही, और कानूनी व्यवस्था की स्थापना की, जिसने एक नए प्रकार के शहरी पेशेवर वर्ग को जन्म दिया। ये लोग अक्सर उच्च जाति के परिवारों से आते थे, जिन्होंने अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की थी और औपनिवेशिक प्रशासन, कानून, चिकित्सा, या शिक्षा के क्षेत्र में काम करते थे। इस वर्ग ने धीरे-धीरे पश्चिमी जीवन शैली, मूल्यों, और आकांक्षाओं को अपनाया, हालांकि वे अपनी भारतीय सांस्कृतिक पहचान को भी बनाए रखते थे। 19वीं सदी के अंत और 20वीं सदी की शुरुआत में, यह नया मध्य वर्ग भारतीय राष्ट्रवाद और सामाजिक सुधार आंदोलनों का प्रमुख वाहक बन गया। इस वर्ग के सदस्यों ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, ब्रह्म समाज, आर्य समाज, और अन्य संगठनों की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, जिन्होंने औपनिवेशिक शासन के खिलाफ विरोध और सामाजिक-धार्मिक सुधारों का आह्वान किया। मोहनदास करमचंद गांधी, जवाहरलाल नेहरू, और सुभाष चंद्र बोस जैसे प्रमुख स्वतंत्रता सेनानी इसी मध्य वर्ग से आए थे। स्वतंत्रता के बाद, नेहरू के नेतृत्व में, भारत ने मिश्रित अर्थव्यवस्था और समाजवादी नीतियों को अपनाया, जिसका उद्देश्य औद्योगिकीकरण, आधुनिकीकरण, और सामाजिक न्याय को बढ़ावा देना था। इस अवधि में, सरकारी नौकरियों, सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों, और शैक्षणिक संस्थानों का विस्तार हुआ, जिसने मध्य वर्ग के विकास को बढ़ावा दिया। हालांकि, आर्थिक विकास की धीमी दर और "लाइसेंस राज" के कारण, मध्य वर्ग का विस्तार अपेक्षाकृत धीमा था, और यह मुख्य रूप से शहरी क्षेत्रों तक ही सीमित था। 1980 के दशक के अंत और 1991 में आर्थिक सुधारों की शुरुआत के साथ, भारतीय मध्य वर्ग के विकास में एक नया अध्याय शुरू हुआ। उदारीकरण, निजीकरण, और वैश्वीकरण की नीतियों ने



निजी क्षेत्र के विकास और विदेशी निवेश के प्रवाह को बढ़ावा दिया, जिसने रोजगार के नए अवसर पैदा किए और आय के स्तर में वृद्धि की। इसके परिणामस्वरूप, मध्य वर्ग का आकार और क्रय शक्ति महत्वपूर्ण रूप से बढ़ी, और उनकी उपभोग की आदतों और जीवन शैली में भी बदलाव आए। 1990 और 2000 के दशक में, सूचना प्रौद्योगिकी उद्योग के उदय ने मध्य वर्ग के विकास को और बढ़ावा दिया। भारत "विश्व का बैक ऑफिस" बन गया, और हजारों युवा पेशवरों ने आईटी और बीपीओ क्षेत्रों में अच्छे वेतन वाली नौकरियां पाईं। इसके अलावा, शिक्षा के क्षेत्र में विस्तार, छोटे शहरों में आर्थिक अवसरों में वृद्धि, और ग्रामीण क्षेत्रों में आय के स्तर में सुधार ने भी मध्य वर्ग के आधार को व्यापक बनाया। इस प्रकार, मध्य वर्ग अब सिर्फ शहरी, उच्च जाति का वर्ग नहीं रहा, बल्कि इसमें विभिन्न जातियों, धर्मों, और क्षेत्रों के लोग शामिल हो गए।

मध्य वर्ग: समकालीन परिदृश्य

वर्तमान भारत में, मध्य वर्ग एक विविध और गतिशील सामाजिक समूह है, जिसका देश की अर्थव्यवस्था, राजनीति, और संस्कृति पर महत्वपूर्ण प्रभाव है। हालांकि भारतीय मध्य वर्ग की परिभाषा और आकार के बारे में विभिन्न अनुमान हैं, यह आम तौर पर स्वीकार किया जाता है कि यह वर्ग तेजी से बढ़ रहा है और भारतीय समाज का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बन गया है। आर्थिक दृष्टिकोण से, मध्य वर्ग को आमतौर पर आय के स्तर, उपभोग के पैटर्न, या व्यावसायिक श्रेणियों के आधार पर परिभाषित किया जाता है। विभिन्न अध्ययनों और संगठनों के अनुसार, भारतीय मध्य वर्ग की परिभाषा और आकार में भिन्नता है, लेकिन यह अनुमान है कि वर्तमान में भारत की लगभग 25-30% आबादी मध्य वर्ग की श्रेणी में आती है। इसमें निम्न मध्य वर्ग, मध्य मध्य वर्ग, और उच्च मध्य वर्ग शामिल हैं, जिनकी क्रय शक्ति और जीवन शैली में महत्वपूर्ण अंतर हो सकता है। भारतीय मध्य वर्ग की एक महत्वपूर्ण विशेषता इसकी आकांक्षात्मक प्रकृति है। इस वर्ग के सदस्य अक्सर उच्च शिक्षा, बेहतर जीवन स्तर, और सामाजिक गतिशीलता की आकांक्षा रखते हैं। वे अपने बच्चों की शिक्षा, स्वास्थ्य देखभाल, और बचत और निवेश पर महत्वपूर्ण खर्च करते हैं। इसके अलावा, वे आधुनिक उपभोक्ता वस्तुओं, जैसे स्मार्टफोन, लैपटॉप, वाहन, और घरेलू उपकरणों की खरीद में भी रुचि रखते हैं, जिससे वे भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। हाल के वर्षों में, भारतीय मध्य वर्ग के उपभोग पैटर्न में महत्वपूर्ण परिवर्तन आए हैं। डिजिटल प्रौद्योगिकी, ई-कॉमर्स, और डिजिटल भुगतान प्रणालियों के विकास ने खरीदारी के तरीकों को बदल दिया है। इसके अलावा, स्वास्थ्य, कल्याण, और पर्यावरण के प्रति जागरूकता बढ़ने से, ऑर्गेनिक खाद्य पदार्थ, फिटनेस सेवाओं, और पर्यावरण-अनुकूल उत्पादों की मांग बढ़ी है। यात्रा, मनोरंजन, और विभिन्न अनुभवों पर खर्च भी बढ़ रहा है, जो जीवन शैली और मूल्यों में परिवर्तन को दर्शाता है।

राजनीतिक दृष्टिकोण से, मध्य वर्ग भारतीय राजनीति में एक महत्वपूर्ण शक्ति बन गया है। इस वर्ग

के सदस्य अक्सर सुशासन, भ्रष्टाचार विरोधी उपायों, और आर्थिक सुधारों की मांग करते हैं। 2011 में अन्ना हजारे के नेतृत्व में भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन और 2012 में निर्भया मामले के बाद महिला सुरक्षा के लिए प्रदर्शन मध्य वर्ग की राजनीतिक भागीदारी के महत्वपूर्ण उदाहरण हैं। हालांकि, यह भी ध्यान देने योग्य है कि मध्य वर्ग राजनीतिक विचारों में एकरूप नहीं है, और इसके भीतर विभिन्न राजनीतिक विचारधाराएं और समर्थन मौजूद हैं। सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टिकोण से, भारतीय मध्य वर्ग परंपरा और आधुनिकता के बीच एक जटिल संतुलन प्रदर्शित करता है। एक ओर, वे पश्चिमी जीवन शैली, वैश्विक संस्कृति, और उदार मूल्यों को अपनाते हैं, दूसरी ओर, वे अपनी भारतीय सांस्कृतिक पहचान, परिवार के मूल्यों, और परंपराओं को भी महत्व देते हैं। इस संतुलन की प्रकृति भिन्न-भिन्न परिवारों, क्षेत्रों, और पीढ़ियों के बीच भिन्न हो सकती है, जिससे मध्य वर्ग के भीतर सांस्कृतिक विविधता का निर्माण होता है। शिक्षा मध्य वर्ग के जीवन में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। वे अपने बच्चों की गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के लिए महत्वपूर्ण निवेश करते हैं, और अक्सर उच्च शिक्षा और पेशेवर योग्यता को सामाजिक गतिशीलता और सफलता का मार्ग मानते हैं। इसके परिणामस्वरूप, भारत में निजी स्कूलों, कोचिंग संस्थानों, और उच्च शिक्षा के अवसरों में महत्वपूर्ण विस्तार हुआ है। हालांकि, यह भी चिंता का विषय है कि गुणवत्तापूर्ण शिक्षा तक पहुंच अभी भी असमान है, और आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों के लिए अच्छी शिक्षा प्राप्त करना अभी भी एक चुनौती है।

वर्तमान भारत में, मध्य वर्ग के समक्ष कई चुनौतियां और अवसर हैं। एक ओर, तकनीकी परिवर्तन, वैश्विक एकीकरण, और आर्थिक विकास ने नए अवसर और संभावनाएं पैदा की हैं। दूसरी ओर, बेरोजगारी, आर्थिक अस्थिरता, महंगाई, और जीवन की गुणवत्ता के मुद्दे, जैसे प्रदूषण, भीड़भाड़, और अपर्याप्त बुनियादी सुविधाएं, मध्य वर्ग के लिए महत्वपूर्ण चिंता के विषय बने हुए हैं। COVID-19 महामारी ने भारतीय मध्य वर्ग पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाला है। महामारी के दौरान, कई मध्य वर्गीय परिवारों ने आय में कमी, नौकरी का नुकसान, या व्यावसायिक असफलता का अनुभव किया। स्वास्थ्य देखभाल खर्च और मेडिकल आपात स्थितियों के कारण, कई परिवारों की वित्तीय स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। हालांकि, महामारी ने डिजिटल कौशल, रिमोट वर्क, और ऑनलाइन शिक्षा के महत्व को भी उजागर किया है, जिससे मध्य वर्ग अपने कौशल और कार्य व्यवस्था को अनुकूलित करने में सक्षम हुआ है। भविष्य में, भारतीय मध्य वर्ग के आकार और प्रभाव में और वृद्धि होने की उम्मीद है। आर्थिक विकास, शहरीकरण, और शिक्षा के स्तर में सुधार के साथ, अधिक से अधिक भारतीय मध्य वर्ग की श्रेणी में प्रवेश करेंगे। इससे उपभोग, निवेश, और सेवा क्षेत्रों में वृद्धि होगी, जो अर्थव्यवस्था के विकास को आगे बढ़ाएगी। साथ ही, मध्य वर्ग की बढ़ती आवाज सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन के लिए दबाव बनाएगी, जो भारतीय लोकतंत्र और शासन प्रणाली को आकार देगी।

तीनों वर्गों के बीच अंतर्संबंध और परिवर्तन



भारतीय समाज में भू-स्वामी, पेशेवर, और मध्य वर्ग एक-दूसरे से अलग-थलग नहीं हैं, बल्कि जटिल अंतर्संबंधों और परस्पर प्रभावों के साथ एक गतिशील सामाजिक परिदृश्य का हिस्सा हैं। इन तीनों वर्गों के बीच संबंधों और परिवर्तनों का अध्ययन भारतीय समाज की जटिलता और इसके विकास को समझने के लिए महत्वपूर्ण है।

इकाई 24: किसान एवं श्रमिक वर्ग

भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था के आधारस्तंभ के रूप में किसान और श्रमिक वर्ग का महत्व अनादिकाल से रहा है। इस अध्याय में हम भारत के किसान और श्रमिक वर्ग के इतिहास, वर्तमान स्थिति, चुनौतियों और भविष्य की संभावनाओं पर विस्तृत चर्चा करेंगे। भारत एक कृषि प्रधान देश रहा है, जहां आज भी लगभग 60 प्रतिशत जनसंख्या प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कृषि पर निर्भर है। वहीं श्रमिक वर्ग देश के औद्योगिक और निर्माण क्षेत्र की रीढ़ है, जिसने भारत के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। स्वतंत्रता के पश्चात भारत में कृषि और श्रमिक क्षेत्र में अनेक परिवर्तन देखने को मिले हैं, जिनका प्रभाव न केवल इन वर्गों पर बल्कि संपूर्ण राष्ट्र की अर्थव्यवस्था और सामाजिक ताने-बाने पर पड़ा है। आज विश्व के तेजी से बदलते परिदृश्य में, वैश्वीकरण, तकनीकी विकास, जलवायु परिवर्तन और बाजारवाद के प्रभाव से किसान और श्रमिक वर्ग नई चुनौतियों का सामना कर रहे हैं। इन चुनौतियों के बीच भी यह वर्ग अपने अस्तित्व और अधिकारों के लिए निरंतर संघर्षरत है। इस अध्याय में हम इन सभी पहलुओं का विस्तृत विश्लेषण करेंगे और समझेंगे कि किस प्रकार किसान और श्रमिक वर्ग भारत के विकास और समृद्धि में अपना योगदान दे रहे हैं।

खंड 1: भारतीय किसान - इतिहास और विकास

प्राचीन काल में कृषि और किसान

भारतीय उपमहाद्वीप में कृषि का इतिहास सिंधु घाटी सभ्यता (लगभग 3300-1300 ईसा पूर्व) से भी पुराना है। खेती की शुरुआत भारत में नवपाषाण काल (8000-5000 ईसा पूर्व) में ही हो चुकी थी, जब मनुष्य शिकार और संग्रह से धीरे-धीरे कृषि की ओर स्थानांतरित हुआ। प्राचीन काल में किसान समाज का सम्मानित वर्ग था और उन्हें 'अन्नदाता' कहा जाता था। वैदिक काल में कृषि को धर्म और संस्कृति से जोड़कर देखा जाता था। ऋग्वेद और अथर्ववेद में कृषि से संबंधित अनेक संदर्भ मिलते हैं, जहां भूमि को 'धरती माता' और 'वसुंधरा' जैसे सम्मानजनक नामों से संबोधित किया गया है। मौर्य और गुप्त काल में कृषि और सिंचाई प्रणालियों का विकास हुआ। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कृषि प्रबंधन और भूमि कर के बारे में विस्तृत विवरण मिलता है। इस काल में राजा का यह कर्तव्य माना जाता था कि वह किसानों की सुरक्षा करे और उनके कल्याण का ध्यान रखे। गुप्त काल में व्यापक सिंचाई प्रणालियों का विकास हुआ, जिससे कृषि उत्पादकता में वृद्धि हुई। किसानों के जीवन स्तर में सुधार आया और समृद्ध कृषि व्यवस्था के आधार पर गुप्त साम्राज्य का स्वर्णिम युग फला-फूला। मध्यकाल में कृषि की स्थिति में उतार-चढ़ाव देखने को मिला। सल्तनत

काल में किसानों पर भारी कर लगाए गए, जिससे उनकी आर्थिक स्थिति कमजोर हुई। हालांकि, कुछ शासकों जैसे अलाउद्दीन खिलजी और फिरोज शाह तुगलक ने कृषि सुधारों पर ध्यान दिया और नहरों का निर्माण करवाया। मुगल काल में अकबर के शासनकाल में कृषि क्षेत्र में महत्वपूर्ण सुधार किए गए। 'दहसाला' व्यवस्था के अंतर्गत भूमि का सर्वेक्षण किया गया और उत्पादकता के आधार पर कर निर्धारित किया गया। इस काल में नई फसलों जैसे मक्का, तंबाकू, आलू और मिर्च की खेती शुरू हुई, जो यूरोपीय व्यापारियों के माध्यम से अमेरिका से लाई गई थीं।

ब्रिटिश काल में भारतीय कृषि और किसान की स्थिति दयनीय हो गई। ब्रिटिश सरकार ने 'जमींदारी प्रथा', 'रैयतवाड़ी प्रथा' और 'महालवाड़ी प्रथा' जैसी भूमि व्यवस्थाएं लागू कीं, जिनका मुख्य उद्देश्य अधिकतम राजस्व संग्रह था, न कि किसानों का कल्याण। इस काल में कृषि का व्यावसायीकरण शुरू हुआ और नील, कपास, जूट जैसी नकदी फसलों पर जोर दिया गया, जिनका ब्रिटिश उद्योगों के लिए कच्चे माल के रूप में उपयोग किया जाता था। इसके परिणामस्वरूप, खाद्य फसलों का उत्पादन कम हुआ और अकाल की स्थिति उत्पन्न हुई। **1860** से **1900** के मध्य भारत में कई बड़े अकाल पड़े, जिनमें लाखों लोग काल के गाल में समा गए। इस काल में किसान आंदोलन भी शुरू हुए। **1857** के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में किसानों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसके बाद चंपारण सत्याग्रह (**1917**), खेड़ा आंदोलन (**1918**), बारदोली सत्याग्रह (**1928**) जैसे आंदोलनों के माध्यम से किसानों ने अपने अधिकारों के लिए आवाज उठाई।

स्वतंत्रता के बाद कृषि और किसान

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत सरकार ने कृषि क्षेत्र के विकास के लिए कई महत्वपूर्ण कदम उठाए। जमींदारी प्रथा का उन्मूलन किया गया और 'भूमि सुधार' कार्यक्रम लागू किए गए, जिनका उद्देश्य भूमि के स्वामित्व का न्यायसंगत वितरण था। इसके अंतर्गत भूमि की अधिकतम सीमा निर्धारित की गई और अतिरिक्त भूमि को भूमिहीन किसानों में बांटा गया। **1960** के दशक में 'हरित क्रांति' ने भारतीय कृषि का कायाकल्प कर दिया। डॉ. नॉर्मन बोरलॉग के नेतृत्व में विकसित उच्च उपज वाले बीजों, रासायनिक उर्वरकों, कीटनाशकों और आधुनिक सिंचाई प्रणालियों के उपयोग से गेहूं और चावल के उत्पादन में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के क्षेत्रों में हरित क्रांति के परिणाम सबसे अधिक दिखाई दिए। इससे भारत खाद्य सुरक्षा के मामले में आत्मनिर्भर हो गया और आयात पर निर्भरता कम हुई। इस काल में कृषि संस्थानों का विस्तार हुआ। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद (**ICAR**), राष्ट्रीय कृषि विस्तार प्रबंधन संस्थान (**MANAGE**), कृषि विज्ञान केंद्र (**KVK**) जैसे संस्थानों की स्थापना की गई, जिन्होंने कृषि अनुसंधान और प्रौद्योगिकी हस्तांतरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। हरित क्रांति के सकारात्मक प्रभावों के साथ-साथ कुछ नकारात्मक परिणाम भी सामने आए। रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशकों के अत्यधिक उपयोग से मिट्टी की उर्वरता घटी और जल प्रदूषण बढ़ा। भूजल का स्तर गिरने लगा और पारिस्थितिकी असंतुलन पैदा हुआ। इसके अलावा, हरित क्रांति का लाभ सभी क्षेत्रों



और सभी वर्गों के किसानों को समान रूप से नहीं मिला। पूर्वी और पूर्वोत्तर क्षेत्र, जहां सिंचाई की सुविधाएं कम थीं, वहां इसका प्रभाव सीमित रहा। छोटे और सीमांत किसान, जिनके पास आधुनिक तकनीक और उपकरणों के लिए पूंजी नहीं थी, वे इस क्रांति से वंचित रह गए।

1970 और 1980 के दशकों में 'श्वेत क्रांति' और 'नीली क्रांति' जैसे अभियानों के माध्यम से डेयरी और मत्स्य पालन क्षेत्रों में भी महत्वपूर्ण प्रगति हुई। डॉ. वर्गीज कुरियन के नेतृत्व में 'ऑपरेशन फ्लड' ने भारत को दुग्ध उत्पादन में विश्व का अग्रणी देश बना दिया। **1990** के दशक में आर्थिक उदारीकरण के बाद भारतीय कृषि का विश्व बाजार से एकीकरण हुआ। इससे कृषि निर्यात बढ़ा, लेकिन विदेशी प्रतिस्पर्धा के कारण स्थानीय किसानों को कई चुनौतियों का सामना करना पड़ा। इस काल में सरकारी नीतियों का झुकाव बड़े व्यावसायिक कृषि उद्यमों की ओर रहा, जिससे छोटे और सीमांत किसानों की स्थिति और भी कमजोर हुई। **2000** के दशक में जैविक खेती, सटीक कृषि, संरक्षित खेती जैसे नए कृषि प्रतिमानों का विकास हुआ। इस काल में किसान क्रेडिट कार्ड, फसल बीमा योजना, राष्ट्रीय कृषि विकास योजना जैसी योजनाएं शुरू की गईं, जिनका उद्देश्य किसानों को वित्तीय समर्थन प्रदान करना था।

वर्तमान में भारतीय किसान की स्थिति

वर्तमान में भारत में किसानों की स्थिति जटिल है। एक ओर कृषि क्षेत्र में नई तकनीकों और सरकारी योजनाओं के माध्यम से प्रगति हो रही है, वहीं दूसरी ओर किसान आज भी अनेक समस्याओं से जूझ रहे हैं। भारत में लगभग **86** प्रतिशत किसान छोटे और सीमांत हैं, जिनके पास **2** हेक्टेयर या उससे कम भूमि है। ये किसान आर्थिक रूप से कमजोर हैं और उनके लिए खेती एक लाभकारी व्यवसाय नहीं है। कृषि क्षेत्र में बढ़ते उत्पादन खर्च और कम आय के कारण किसानों पर कर्ज का बोझ बढ़ रहा है। राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो (**NCRB**) के आंकड़ों के अनुसार, पिछले दशक में हजारों किसानों ने आत्महत्या की है, जिसका मुख्य कारण कर्ज का बोझ और फसल की विफलता है। महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश, तेलंगाना, मध्य प्रदेश और कर्नाटक जैसे राज्यों में किसान आत्महत्या की दर अधिक है। जलवायु परिवर्तन के कारण मौसम के पैटर्न में बदलाव आ रहा है, जिससे फसलों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है। अनियमित वर्षा, सूखा, बाढ़, ओलावृष्टि जैसी प्राकृतिक आपदाओं से फसलें नष्ट हो रही हैं। हालांकि फसल बीमा योजनाएं हैं, लेकिन इनका लाभ सभी किसानों तक नहीं पहुंच पाता और मुआवजा राशि भी अपर्याप्त होती है।

कृषि उपज के लिए बाजार की अनिश्चितता एक बड़ी समस्या है। फसलों के न्यूनतम समर्थन मूल्य (**MSP**) की घोषणा होती है, लेकिन कई बार किसानों को इससे कम कीमत पर अपनी उपज बेचनी पड़ती है। बिचौलियों की भूमिका से किसानों को उचित मूल्य नहीं मिल पाता। कृषि उत्पादों के भंडारण की अपर्याप्त सुविधाओं के कारण किसानों को अपनी उपज तुरंत बेचने के लिए मजबूर होना पड़ता है, जिससे उन्हें कम कीमत मिलती है। सरकार ने इन समस्याओं के समाधान के लिए कई योजनाएं शुरू की हैं। प्रधानमंत्री किसान सम्मान निधि (**PM-KISAN**) के अंतर्गत किसानों को

प्रति वर्ष 6,000 रुपये की वित्तीय सहायता दी जाती है। प्रधानमंत्री फसल बीमा योजना के माध्यम से फसल के नुकसान पर किसानों को बीमा सुरक्षा प्रदान की जाती है। ई-नाम (राष्ट्रीय कृषि बाजार) पोर्टल के माध्यम से किसानों को अपनी उपज बेचने के लिए एक ऑनलाइन मंच प्रदान किया गया है। प्रधानमंत्री कृषि सिंचाई योजना के अंतर्गत सिंचाई सुविधाओं का विस्तार किया जा रहा है।

2020 में केंद्र सरकार ने तीन कृषि कानून पारित किए, जिनका उद्देश्य कृषि क्षेत्र में बाजार सुधार लाना था। इन कानूनों के विरोध में किसानों ने बड़े पैमाने पर आंदोलन किया, जिसके परिणामस्वरूप अंततः इन कानूनों को वापस ले लिया गया। वर्तमान में किसानों की स्थिति में सुधार के लिए समग्र दृष्टिकोण की आवश्यकता है। कृषि को लाभकारी व्यवसाय बनाने के लिए उत्पादन लागत कम करने, उत्पादकता बढ़ाने, मूल्य वर्धन को प्रोत्साहित करने और बाजार की पहुंच में सुधार करने की आवश्यकता है। छोटे और सीमांत किसानों के हितों की रक्षा के लिए विशेष नीतियां बनानी होंगी और उन्हें तकनीकी और वित्तीय सहायता प्रदान करनी होगी।

कृषि क्षेत्र में विविधीकरण और नवाचार

वर्तमान समय में कृषि क्षेत्र में विविधीकरण और नवाचार की प्रवृत्ति बढ़ रही है। परंपरागत खेती से हटकर किसान फूलों की खेती, औषधीय पौधों की खेती, जैविक खेती, फलों और सब्जियों की खेती, मशरूम उत्पादन, मधुमक्खी पालन, रेशम उत्पादन जैसे क्षेत्रों में जा रहे हैं। इससे उनकी आय में वृद्धि हो रही है और जोखिम कम हो रहा है। जैविक खेती की ओर बढ़ता रुझान एक सकारात्मक विकास है। रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशकों के दुष्प्रभावों को देखते हुए अब किसान जैविक खेती की ओर आकर्षित हो रहे हैं। सिक्किम पूरी तरह से जैविक राज्य बन चुका है और अन्य राज्यों में भी जैविक खेती को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। जैविक उत्पादों की बढ़ती मांग के कारण किसानों को अच्छे दाम मिल रहे हैं। खेती के साथ-साथ पशुपालन, मत्स्य पालन और कृषि वानिकी जैसे संबद्ध क्षेत्रों का विकास भी हो रहा है। ये कृषि के पूरक क्षेत्र हैं, जो किसानों को अतिरिक्त आय प्रदान करते हैं। पशुपालन से दूध, मांस, ऊन जैसे उत्पाद मिलते हैं, और पशुओं का गोबर जैविक खाद के लिए उपयोगी होता है। मत्स्य पालन से झींगा, मछली जैसे प्रोटीन युक्त खाद्य पदार्थ मिलते हैं, जिनकी घरेलू और अंतरराष्ट्रीय बाजार में अच्छी मांग है।

कृषि में प्रौद्योगिकी का उपयोग बढ़ रहा है। ड्रोन प्रौद्योगिकी, सेंसर आधारित सिंचाई प्रणालियां, जीपीएस निर्देशित कृषि उपकरण, कृत्रिम बुद्धिमत्ता और बिग डेटा का उपयोग कृषि को अधिक कुशल और उत्पादक बना रहा है। मोबाइल एप्लिकेशन्स के माध्यम से किसान मौसम की जानकारी, फसल की स्थिति, बाजार के भाव, कृषि विशेषज्ञों की सलाह आदि प्राप्त कर सकते हैं। कृषि स्टार्टअप्स का उदय एक अन्य महत्वपूर्ण विकास है। युवा उद्यमी कृषि क्षेत्र में नए विचारों और समाधानों के साथ आ रहे हैं। ये स्टार्टअप्स किसानों को तकनीकी सहायता, मार्केटिंग सपोर्ट, वित्तीय सेवाएं प्रदान कर रहे हैं और कृषि आपूर्ति श्रृंखला को मजबूत बना रहे हैं। कृषि उत्पादों के



मूल्य वर्धन पर जोर दिया जा रहा है। खाद्य प्रसंस्करण उद्योग का विकास किसानों को अपने उत्पादों का बेहतर मूल्य प्राप्त करने में मदद कर रहा है। फलों और सब्जियों का जूस, जैम, अचार, चिप्स जैसे प्रसंस्कृत उत्पाद बनाकर उनका मूल्य बढ़ाया जा सकता है। इससे न केवल किसानों की आय बढ़ती है, बल्कि ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अवसर भी सृजित होते हैं। किसान उत्पादक संगठन (FPO) और स्वयं सहायता समूह (SHG) की स्थापना से किसानों को संगठित होने और सामूहिक रूप से काम करने का अवसर मिल रहा है। इससे उन्हें बेहतर मोल-भाव की शक्ति मिलती है और वे बड़े पैमाने पर अर्थव्यवस्था का लाभ उठा सकते हैं। कृषि पर्यटन (एग्रीटूरिज्म) एक उभरता हुआ क्षेत्र है, जिसमें किसान अपने खेतों और फार्म्स को पर्यटन स्थलों के रूप में विकसित कर रहे हैं। इससे उन्हें अतिरिक्त आय प्राप्त होती है और शहरी लोगों को ग्रामीण जीवन और खेती के बारे में जानने का अवसर मिलता है।

महिला किसान और उनकी भूमिका

भारतीय कृषि में महिलाओं की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। कृषि कार्यबल में लगभग 40 प्रतिशत हिस्सेदारी महिलाओं की है, और कई कार्य जैसे रोपाई, निराई-गुड़ाई, कटाई, भंडारण आदि मुख्य रूप से महिलाओं द्वारा किए जाते हैं। हालांकि, इतनी महत्वपूर्ण भूमिका के बावजूद महिला किसानों को 'किसान' के रूप में मान्यता नहीं मिलती और उन्हें अनेक चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। भूमि और संपत्ति के अधिकारों की कमी महिला किसानों के सामने एक बड़ी चुनौती है। अधिकांश कृषि भूमि पुरुषों के नाम पर है, जिससे महिलाओं को कृषि ऋण, सरकारी योजनाओं का लाभ और अन्य संसाधनों तक पहुंच में कठिनाई होती है। सामाजिक मानदंडों और पितृसत्तात्मक व्यवस्था के कारण महिला किसानों को निर्णय लेने की प्रक्रिया में भी पूरी भागीदारी नहीं मिलती। महिला किसानों के सशक्तिकरण के लिए सरकार और गैर-सरकारी संगठनों द्वारा कई पहल की गई है

इकाई 25: जनजातियां एवं जनजातीय विद्रोह

भारत की सामाजिक और सांस्कृतिक विविधता इसकी महत्वपूर्ण विशेषताओं में से एक है। यह विविधता विभिन्न समुदायों, धर्मों, भाषाओं और जातियों के साथ-साथ जनजातीय समूहों के रूप में भी दिखाई देती है। भारत में जनजातीय समुदाय देश के प्राचीनतम निवासियों में से हैं, जिन्होंने अपनी विशिष्ट संस्कृति, परंपराओं और जीवन शैली को संरक्षित रखा है। आज भारत में लगभग 705 अनुसूचित जनजातियां हैं, जिनकी कुल जनसंख्या 10.43 करोड़ (2011 की जनगणना के अनुसार) है, जो भारत की कुल जनसंख्या का लगभग 8.6 प्रतिशत है। ये जनजातियां देश के विभिन्न हिस्सों में फैली हुई हैं, विशेष रूप से पूर्वोत्तर राज्यों, मध्य भारत, पश्चिमी भारत और दक्षिणी भारत के कुछ हिस्सों में। भारतीय इतिहास में जनजातियों की भूमिका महत्वपूर्ण रही है, विशेषकर उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष में। ब्रिटिश शासनकाल के दौरान, जनजातीय समुदायों ने औपनिवेशिक शक्तियों के विरुद्ध कई विद्रोह किए, जो उनकी भूमि, संसाधनों और स्वायत्तता पर

बढ़ते अतिक्रमण के विरुद्ध थे। इन विद्रोहों ने न केवल उपनिवेशवाद के खिलाफ प्रतिरोध का प्रतिनिधित्व किया, बल्कि जनजातीय पहचान और अधिकारों के संरक्षण के लिए एक संघर्ष भी था। इस अध्याय में, हम भारत की प्रमुख जनजातियों, उनकी सामाजिक-सांस्कृतिक विशेषताओं, और उनके द्वारा किए गए महत्वपूर्ण विद्रोहों का अध्ययन करेंगे। हम यह भी समझेंगे कि कैसे ये विद्रोह भारत के स्वतंत्रता संग्राम का एक महत्वपूर्ण हिस्सा थे और कैसे वे आधुनिक भारत में जनजातीय अधिकारों और पहचान के लिए चल रहे संघर्ष से जुड़े हुए हैं।

भारत में जनजातियों का वितरण और वर्गीकरण

भारत में जनजातीय समुदायों का वितरण भौगोलिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक कारकों से प्रभावित रहा है। ये जनजातियां मुख्य रूप से देश के वनों, पहाड़ों और दुर्गम क्षेत्रों में निवास करती हैं। भौगोलिक वितरण के आधार पर, भारत की जनजातियों को निम्नलिखित क्षेत्रों में विभाजित किया जा सकता है:

1. उत्तर-पूर्वी क्षेत्र: इसमें असम, मेघालय, अरुणाचल प्रदेश, नागालैंड, मणिपुर, मिजोरम, त्रिपुरा और सिक्किम शामिल हैं। इस क्षेत्र में नागा, खासी, गारो, मिजो, बोडो, त्रिपुरी, लेपचा और कई अन्य जनजातियां निवास करती हैं। ये जनजातियां मंगोलॉयड मूल की हैं और विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान रखती हैं।
2. मध्य भारत का क्षेत्र: इसमें झारखंड, छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश, ओडिशा और पश्चिम बंगाल के कुछ हिस्से शामिल हैं। इस क्षेत्र में संथाल, मुंडा, हो, ओरांव, गोंड, भील, बैगा, कोरवा और कई अन्य जनजातियां रहती हैं। यह क्षेत्र जनजातीय आबादी के मामले में सबसे घनी आबादी वाला है।
3. पश्चिमी क्षेत्र: इसमें राजस्थान, गुजरात और महाराष्ट्र शामिल हैं। यहां भील, गरासिया, मीणा, कोली, वारली, कोंकणा और कई अन्य जनजातियां निवास करती हैं।
4. दक्षिणी क्षेत्र: इसमें आंध्र प्रदेश, तेलंगाना, कर्नाटक, केरल और तमिलनाडु शामिल हैं। इस क्षेत्र में गोंड, कोया, चेंचू, टोडा, कुरुम्बा, इरुला और कई अन्य जनजातियां पाई जाती हैं।
5. द्वीपीय क्षेत्र: अंडमान और निकोबार द्वीप समूह में जरवा, ओंगे, सेंटिनली, निकोबारी और शोम्पेन जैसी जनजातियां निवास करती हैं। ये जनजातियां विशेष रूप से संवेदनशील हैं और उनमें से कई अभी भी अलग-थलग जीवन जीती हैं।

जनजातियों को उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति के आधार पर भी वर्गीकृत किया जा सकता है:

1. आदिम जनजातियां: ये वे जनजातियां हैं जो अभी भी अपेक्षाकृत अलग-थलग और प्राचीन जीवन शैली जीती हैं, जैसे कि अंडमानी जनजातियां, बोंडा, और बिरहोर। इन्हें विशेष रूप से कमजोर जनजातीय समूहों (पीवीटीजी) के रूप में भी जाना जाता है।
2. अर्ध-आदिम जनजातियां: ये जनजातियां आंशिक रूप से आधुनिक समाज के संपर्क में हैं,



लेकिन अपनी पारंपरिक जीवन शैली के कई पहलुओं को बनाए रखती हैं, जैसे कि कुछ गोंड और भील समुदाय।

3. आधुनिक जनजातियां: ये जनजातियां मुख्यधारा के समाज के अधिक संपर्क में हैं और आधुनिक शिक्षा, रोजगार और जीवन शैली को अपना रही हैं, जैसे कि कई मीणा, बोडो और खासी।

भाषाई वर्गीकरण के अनुसार, भारतीय जनजातियों की भाषाओं को चार प्रमुख भाषा परिवारों में विभाजित किया जा सकता है:

1. ऑस्ट्रो-एशियाटिक परिवार: इसमें मुंडा भाषा परिवार (संथाली, मुंडारी, हो, आदि) शामिल हैं, जो मुख्य रूप से मध्य और पूर्वी भारत में बोली जाती हैं।
2. द्रविड़ परिवार: इसमें गोंडी, तोडा, कोया, और कुई जैसी जनजातीय भाषाएं शामिल हैं, जो मुख्य रूप से मध्य और दक्षिणी भारत में बोली जाती हैं।
3. तिब्बती-बर्मन परिवार: इसमें बोडो, नागा, लेपचा, और गारो जैसी भाषाएं शामिल हैं, जो मुख्य रूप से उत्तर-पूर्वी भारत में बोली जाती हैं।
4. इंडो-आर्यन परिवार: इसमें भीली, राजबंशी, और हलबी जैसी भाषाएं शामिल हैं, जो इंडो-आर्यन प्रभाव वाले क्षेत्रों में बोली जाती हैं।

भारत में जनजातीय समुदायों की यह विविधता उनके इतिहास, संस्कृति और विकास के मार्ग की जटिलता को दर्शाती है। हालांकि, इस विविधता के बावजूद, ये समुदाय कुछ सामान्य विशेषताओं और चुनौतियों को साझा करते हैं, जिनके बारे में हम अगले खंड में चर्चा करेंगे।

भारतीय जनजातियों की सामाजिक-सांस्कृतिक विशेषताएं

भारतीय जनजातीय समुदायों की सामाजिक-सांस्कृतिक विशेषताएं उनकी विशिष्ट पहचान और जीवन शैली को परिभाषित करती हैं। हालांकि भारत की जनजातियां अपनी संस्कृति, परंपराओं और रीति-रिवाजों में काफी विविधता दिखाती हैं, फिर भी उनमें कुछ सामान्य विशेषताएं पाई जाती हैं:

1. सामूहिक जीवन और संगठन: अधिकांश जनजातीय समुदाय सामूहिक जीवन को महत्व देते हैं। उनका सामाजिक संगठन गोत्र या कुल पर आधारित होता है, जिसमें एक ही पूर्वज से संबंधित लोग एक इकाई के रूप में पहचाने जाते हैं। उदाहरण के लिए, संथाल जनजाति में 12 प्रमुख गोत्र हैं, और प्रत्येक गोत्र के अपने नियम और परंपराएं होती हैं। इसी तरह, नागा जनजातियों में विभिन्न खाप (क्लान) होते हैं, जो उनके सामाजिक संगठन का आधार बनते हैं।
2. भूमि और प्रकृति से गहरा संबंध: जनजातीय समुदायों का प्रकृति और भूमि से गहरा संबंध होता है। उनके लिए, भूमि केवल एक संपत्ति नहीं, बल्कि उनकी पहचान और अस्तित्व का एक अभिन्न अंग है। वे प्रकृति के साथ सामंजस्य में रहते हैं और प्राकृतिक संसाधनों का

सतत उपयोग करते हैं। उदाहरण के लिए, बैगा जनजाति की 'बेवर' या स्थानांतरित खेती पद्धति, वारली जनजाति के प्राकृतिक चित्र, और ओरांव जनजाति के प्रकृति पूजा संबंधी अनुष्ठान उनके प्रकृति के साथ गहरे संबंध को दर्शाते हैं।

3. सामाजिक समानता और लोकतांत्रिक व्यवस्था: अधिकांश जनजातीय समुदायों में सामाजिक समानता का सिद्धांत प्रचलित होता है। उनमें जाति प्रथा या अन्य सामाजिक भेदभाव की कठोरता आम तौर पर नहीं पाई जाती। उनकी शासन व्यवस्था अक्सर लोकतांत्रिक होती है, जिसमें गांव परिषद या समुदाय के वरिष्ठ सदस्य निर्णय लेने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। उदाहरण के लिए, नागा जनजातियों में 'मोरुंग' (युवा आवास), गोंड जनजाति में 'पंचायत', और खासी जनजाति में मातृसत्तात्मक शासन व्यवस्था उनके लोकतांत्रिक मूल्यों को दर्शाती है।
4. आत्मनिर्भरता और सहकारिता: जनजातीय समुदाय परंपरागत रूप से आत्मनिर्भर रहे हैं, अपनी बुनियादी जरूरतों के लिए स्थानीय संसाधनों पर निर्भर करते हैं। वे खेती, शिकार, मछली पकड़ना, वन उत्पादों का संग्रह, और हस्तशिल्प जैसी गतिविधियों में संलग्न रहते हैं। साथ ही, ये समुदाय सहकारिता और परस्पर सहायता के सिद्धांतों पर कार्य करते हैं। उदाहरण के लिए, संथाल जनजाति का 'मदैत' (सामूहिक श्रम), भील जनजाति का 'हलमा' (सामूहिक खेती), और मुंडा जनजाति का 'दिरी' (सामूहिक सहायता) उनकी सहकारी प्रवृत्ति को दर्शाते हैं।
5. विशिष्ट धार्मिक मान्यताएं और अनुष्ठान: जनजातीय धर्म आमतौर पर प्रकृति पूजा, पूर्वज पूजा, और आत्मवाद पर आधारित होते हैं। वे पेड़ों, पहाड़ों, नदियों, और अन्य प्राकृतिक स्थलों को पवित्र मानते हैं और उनकी पूजा करते हैं। उनके धार्मिक अनुष्ठानों में नृत्य, संगीत, और बलिदान शामिल हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, संथाल जनजाति का 'सोहराई' त्योहार, बोडो जनजाति का 'बैसागु', और मीणा जनजाति का 'गणगौर' उत्सव उनकी धार्मिक मान्यताओं और अनुष्ठानों का प्रतिनिधित्व करते हैं।
6. समृद्ध मौखिक परंपरा: जनजातीय समुदायों में मौखिक परंपरा का विशेष महत्व होता है। उनके पास समृद्ध लोक कथाएं, गीत, कहावतें, और किंवदंतियां हैं, जो पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती हैं। ये मौखिक परंपराएं उनके इतिहास, मूल्यों, और विश्वासों को संरक्षित रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। उदाहरण के लिए, गोंड जनजाति की 'लिंगो' कथाएं, भील जनजाति के 'गवरी' गीत, और संथाल जनजाति की 'बिति' कहानियां उनकी समृद्ध मौखिक परंपरा का हिस्सा हैं।
7. विशिष्ट कला और शिल्प: जनजातीय समुदायों की अपनी विशिष्ट कला और शिल्प परंपराएं होती हैं, जो उनकी सांस्कृतिक पहचान का एक महत्वपूर्ण हिस्सा हैं। इनमें चित्रकला, मूर्तिकला, बुनाई, बांस शिल्प, धातु शिल्प, और मिट्टी के बर्तन बनाना शामिल हैं। उदाहरण

के लिए, वारली जनजाति के ज्यामितीय चित्र, गोंड जनजाति की दीवार चित्रकला, और बस्तर की धातु शिल्प कला विश्व प्रसिद्ध हैं।

8. विशिष्ट पोशाक और आभूषण: प्रत्येक जनजातीय समुदाय की अपनी विशिष्ट पोशाक और आभूषण होते हैं, जो उनकी सांस्कृतिक पहचान को दर्शाते हैं। उदाहरण के लिए, नागा जनजातियों के रंगीन शॉल और मुकुट, बोडो महिलाओं का 'दोखना' (पारंपरिक पोशाक), और मारिया गोंड के धातु के आभूषण उनकी विशिष्ट पहचान का प्रतीक हैं।
9. समृद्ध नृत्य और संगीत परंपरा: जनजातीय संस्कृतियों में नृत्य और संगीत का विशेष महत्व होता है। उनके नृत्य अक्सर प्राकृतिक घटनाओं, मौसमी चक्रों, या दैनिक गतिविधियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उदाहरण के लिए, छत्तीसगढ़ के गोंड जनजाति का 'करमा' नृत्य, राजस्थान के भील जनजाति का 'गवरी' नृत्य, और नागालैंड के नागा जनजातियों का 'होर्नबिल' नृत्य उनकी समृद्ध नृत्य परंपरा का प्रतिनिधित्व करते हैं।
10. पारंपरिक ज्ञान और प्रथाएं: जनजातीय समुदायों के पास प्राकृतिक संसाधनों के प्रबंधन, चिकित्सा, कृषि, और मौसम पूर्वानुमान से संबंधित समृद्ध पारंपरिक ज्ञान होता है। उदाहरण के लिए, इरुला जनजाति के सांप पकड़ने के कौशल, बैगा जनजाति के औषधीय पौधों के ज्ञान, और अंडमानी जनजातियों के नेविगेशन कौशल उनके पारंपरिक ज्ञान का प्रमाण हैं।

इन सामाजिक-सांस्कृतिक विशेषताओं ने जनजातीय समुदायों को विशिष्ट पहचान प्रदान की है और उन्हें भारतीय सांस्कृतिक मोज़ेक का एक अभिन्न अंग बना दिया है। हालांकि, आधुनिकीकरण, शहरीकरण, और वैश्वीकरण के प्रभाव से कई जनजातीय समुदायों की पारंपरिक जीवन शैली और संस्कृति पर दबाव बढ़ रहा है, जिससे उनके सामने अपनी सांस्कृतिक विरासत को संरक्षित रखने की चुनौती उत्पन्न हो रही है।

भारत में जनजातीय विद्रोह: पृष्ठभूमि और कारण

भारतीय इतिहास में, जनजातीय विद्रोह एक महत्वपूर्ण अध्याय रहे हैं, जो मुख्य रूप से उपनिवेशवादी शक्तियों के खिलाफ संघर्ष और अपनी पहचान, अधिकारों और संसाधनों के संरक्षण के लिए किए गए थे। ये विद्रोह व्यापक राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिवर्तनों के संदर्भ में समझे जाने चाहिए, जो औपनिवेशिक काल के दौरान भारत में हुए थे। जनजातीय विद्रोहों की पृष्ठभूमि और प्रमुख कारणों का विश्लेषण इस प्रकार है:

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के आगमन से पहले, अधिकांश जनजातीय समुदाय अपने क्षेत्रों में स्वायत्त रूप से रहते थे, अपनी परंपरागत प्रथाओं और शासन व्यवस्था के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करते थे। हालांकि वे राजाओं और सामंतों के साथ कभी-कभी संघर्ष में आते थे, लेकिन उनकी स्वायत्तता और संसाधनों पर उनका नियंत्रण बड़े पैमाने पर बरकरार था। ब्रिटिश

औपनिवेशिक शासन की स्थापना के साथ, यह स्थिति तेजी से बदल गई। ब्रिटिश प्रशासन ने अपनी आर्थिक और प्रशासनिक नीतियों के माध्यम से जनजातीय क्षेत्रों में प्रवेश किया, जिससे उनकी पारंपरिक जीवन शैली और स्वायत्तता पर गंभीर प्रभाव पड़ा। यह समय अंग्रेजों द्वारा 'विस्तार की नीति' का था, जिसमें उन्होंने अपने प्रभाव को भारत के दूरदराज के क्षेत्रों तक फैलाया, जिसमें जनजातीय क्षेत्र भी शामिल थे।

प्रमुख कारण

1. वन नीतियां और वन अधिकारों का उल्लंघन: ब्रिटिश सरकार द्वारा लागू की गई वन नीतियां जनजातीय विद्रोहों के प्रमुख कारणों में से एक थीं। 1865 और 1878 के वन अधिनियमों ने वनों को राज्य की संपत्ति घोषित कर दिया, जिससे जनजातियों के वनों पर पारंपरिक अधिकार छीन लिए गए। इन नीतियों ने वन उत्पादों के संग्रह, शिकार, और स्थानांतरित खेती जैसी गतिविधियों पर प्रतिबंध लगा दिया, जो जनजातीय अर्थव्यवस्था का आधार थीं।

उदाहरण के लिए, छोटा नागपुर क्षेत्र में, मुंडा और संथाल जनजातियों को वन उत्पादों के संग्रह और खेती के लिए वनों में प्रवेश करने से रोक दिया गया, जिससे उनकी आजीविका पर गंभीर प्रभाव पड़ा। इसी तरह, बस्तर क्षेत्र में, मारिया गोंड और अन्य जनजातियों को अपने पारंपरिक वन क्षेत्रों से बाहर कर दिया गया, जिससे वे अपनी आजीविका के प्रमुख स्रोत से वंचित हो गए।

2. भूमि अधिग्रहण और विस्थापन: औपनिवेशिक सरकार द्वारा जनजातीय भूमि का अधिग्रहण एक अन्य महत्वपूर्ण कारण था। वन विभाग, खनन कंपनियों, और बागान मालिकों द्वारा जनजातीय भूमि के बड़े पैमाने पर अधिग्रहण से जनजातीय समुदायों का व्यापक विस्थापन हुआ। भूमि व्यवस्था में परिवर्तन, जैसे स्थायी बंदोबस्त और जमींदारी प्रथा, ने भी जनजातीय भूमि अधिकारों को कमजोर किया। इन नीतियों के तहत, जनजातीय भूमि को राजस्व के लिए पंजीकृत किया गया और कई मामलों में गैर-जनजातीय जमींदारों, साहूकारों और व्यापारियों को हस्तांतरित कर दिया गया।

उदाहरण के लिए, छोटा नागपुर क्षेत्र में 'खुंटकट्टी' भूमि (मुंडा जनजाति की पारंपरिक भूमि) को दिकु (गैर-जनजातीय) जमींदारों को हस्तांतरित कर दिया गया, जिसके परिणामस्वरूप बिरसा मुंडा के नेतृत्व में उल्गुलान (महान विद्रोह) हुआ। इसी तरह, संथालों की भूमि महाजनों और जमींदारों द्वारा हड़प ली गई, जिससे 1855-56 का संथाल विद्रोह भड़क उठा।

3. शोषणकारी आर्थिक नीतियां: ब्रिटिश सरकार द्वारा लागू की गई कई आर्थिक नीतियों ने जनजातीय अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव डाला। इनमें उच्च भू-राजस्व, बेगार (अवैतनिक श्रम), और विभिन्न प्रकार के कर शामिल थे, जो जनजातीय समुदायों पर बोझ बन गए। साथ ही, साहूकारी प्रथा के माध्यम से शोषण भी बढ़ गया। जनजातीय लोग अक्सर साहूकारों से उच्च ब्याज दरों पर ऋण लेने के लिए मजबूर होते थे, और अंततः ऋण के

बोझ के कारण अपनी भूमि खो देते थे। कई मामलों में, वे बंधुआ मजदूर बन जाते थे। उदाहरण के लिए, बस्तर में, 'मालगुजारी' प्रथा (राजस्व संग्रह) और 'नजराना' (जबरन उपहार) के माध्यम से जनजातीय लोगों का आर्थिक शोषण किया गया, जिससे 1910 का भूमकाल विद्रोह हुआ। इसी तरह, राजमहल पहाड़ियों में, संथालों पर उच्च राजस्व, बेगार, और साहूकारों के शोषण के कारण 1855-56 का "हूल" (विद्रोह) भड़क उठा।

4. प्रशासनिक हस्तक्षेप और सांस्कृतिक आक्रमण: ब्रिटिश प्रशासन द्वारा जनजातीय क्षेत्रों में प्रशासनिक हस्तक्षेप ने उनकी पारंपरिक शासन व्यवस्था और सामाजिक संरचना को कमजोर किया। पारंपरिक नेतृत्व को कमजोर करके और नए प्रशासनिक अधिकारियों की नियुक्ति करके, ब्रिटिश सरकार ने जनजातीय स्वायत्तता को कम किया। इसके अलावा, ईसाई मिशनरियों के आगमन और धर्मांतरण के प्रयासों ने भी जनजातीय समुदायों में अशांति पैदा की। हालांकि कुछ मिशनरियों ने शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं में योगदान दिया, लेकिन धर्मांतरण के प्रयासों ने जनजातीय धर्मों और संस्कृतियों के लिए खतरा पैदा किया।

उदाहरण के लिए, छोटा नागपुर क्षेत्र में, जर्मन लूथरन मिशनरियों के आगमन ने मुंडा और उरांव जनजातियों के बीच धार्मिक विभाजन पैदा किया। नागालैंड में, ब्रिटिश प्रशासन द्वारा पारंपरिक नागा संस्थाओं में हस्तक्षेप ने नागा विद्रोह को जन्म दिया।

5. स्वतंत्रता की भावना और पारंपरिक स्वायत्तता का रक्षण: जनजातीय समुदायों में स्वतंत्रता और स्वायत्तता की मजबूत भावना थी, जिसे वे बनाए रखना चाहते थे। उनके विद्रोह न केवल शोषण के खिलाफ थे, बल्कि अपनी पारंपरिक स्वायत्तता और जीवन शैली को बचाने के लिए भी थे।

उदाहरण के लिए, नागा जनजातियों ने अपने क्षेत्र में ब्रिटिश हस्तक्षेप का विरोध किया और अपनी स्वतंत्रता और स्वायत्तता की रक्षा के लिए दशकों तक संघर्ष किया। इसी तरह, खासी जनजाति के नेता यू तिरोत सिंग ने ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार का विरोध किया और अपने क्षेत्र की स्वतंत्रता के लिए लड़ा।

6. मसीहा आंदोलन और धार्मिक पुनरुत्थान: कई जनजातीय विद्रोहों में धार्मिक या मसीहा तत्व शामिल थे, जिनमें नेता को दैवीय शक्तियों या पूर्वजों द्वारा भेजा गया मसीहा माना जाता था। ये आंदोलन अक्सर पारंपरिक धर्म के पुनरुत्थान और विदेशी प्रभावों से मुक्ति के वादे के साथ आते थे।

उदाहरण के लिए, बिरसा मुंडा ने स्वयं को भगवान का दूत (धरती आबा या पृथ्वी पिता) घोषित किया और "बिरसाइट" धर्म की स्थापना की, जिसने पारंपरिक मुंडा धर्म के पुनरुत्थान का आह्वान किया। उन्होंने "साल्विक राज" (स्वर्ण युग) की वापसी की भविष्यवाणी की, जिसमें मुंडा लोग फिर से अपनी भूमि और स्वतंत्रता प्राप्त करेंगे।

7. क्षेत्रीय और राष्ट्रीय घटनाओं का प्रभाव: कुछ जनजातीय विद्रोह व्यापक क्षेत्रीय या राष्ट्रीय

घटनाओं से भी प्रभावित थे, जैसे 1857 का विद्रोह और स्वतंत्रता आंदोलन। इन घटनाओं ने जनजातीय समुदायों को भी अपने अधिकारों और स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने के लिए प्रेरित किया।

उदाहरण के लिए, 1857 के विद्रोह के बाद, गोंड और भील जनजातियों में कई छोटे विद्रोह हुए। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान, जैसे-जैसे राष्ट्रवादी विचार फैले, कई जनजातीय क्षेत्रों में भी औपनिवेशिक शासन के खिलाफ प्रतिरोध बढ़ा। ये विभिन्न कारक अलग-अलग जनजातीय क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न तीव्रता और संयोजन में मौजूद थे, जिससे विभिन्न प्रकार के जनजातीय विद्रोह हुए। अगले खंड में, हम भारत के प्रमुख जनजातीय विद्रोहों का विस्तृत विश्लेषण करेंगे, उनके कारणों, घटनाओं, और परिणामों की चर्चा करेंगे।

प्रमुख जनजातीय विद्रोह: कारण, घटनाएं और परिणाम

1. संथाल विद्रोह (हूल) - 1855-56

पृष्ठभूमि और कारण: संथाल विद्रोह, जिसे 'संथाल हूल' के नाम से भी जाना जाता है, भारत के प्रमुख जनजातीय विद्रोहों में से एक था, जो 1855-56 में बिहार के राजमहल पहाड़ियों (वर्तमान झारखंड) के क्षेत्र में हुआ। संथाल बिहार, बंगाल और उड़ीसा (वर्तमान झारखंड, पश्चिम बंगाल और ओडिशा) के सीमावर्ती क्षेत्रों में रहने वाली प्रमुख जनजाति थे।

विद्रोह के प्रमुख कारण थे:

- दिकु (गैर-जनजातीय) जमींदारों, महाजनों, और व्यापारियों द्वारा संथालों का शोषण
- साहूकारों द्वारा उच्च ब्याज दरों पर ऋण देना और धोखाधड़ी के माध्यम से संथालों की भूमि का अधिग्रहण
- ब्रिटिश प्रशासन द्वारा लागू भू-राजस्व नीतियां, जिन्होंने संथालों के पारंपरिक भूमि अधिकारों को कमजोर किया
- बेगार प्रथा (अवैतनिक श्रम) और जबरन वसूली, जिससे संथालों का आर्थिक शोषण हुआ
- प्रशासनिक भ्रष्टाचार और न्याय प्रणाली में संथालों के हितों की अनदेखी

विद्रोह की घटनाएं: विद्रोह की शुरुआत जून 1855 में हुई, जब संथालों के दो भाइयों - सिद्धू और कान्हू मांझी ने अपने चार भाइयों (चांद, भैरव, सोनाराम और दाबिरा) के साथ मिलकर, 30,000 से अधिक संथालों को एकत्रित किया और दिकुओं तथा ब्रिटिश सरकार के खिलाफ विद्रोह की घोषणा की। उन्होंने स्वयं को "ठाकुर" (भगवान) के भेजे हुए दूत के रूप में प्रस्तुत किया और कहा कि उन्हें दिकुओं से संथालों को मुक्त कराने के लिए दिव्य आदेश मिला है।

संथालों ने दिकु जमींदारों, महाजनों, और व्यापारियों के घरों पर हमला किया, कई को मार डाला, और उनके दस्तावेज और संपत्ति नष्ट कर दी। उन्होंने खुद को स्वतंत्र घोषित कर दिया और अपनी सरकार स्थापित की, जिसमें सिद्धू और कान्हू को राजा घोषित किया गया।

ब्रिटिश सरकार ने विद्रोह को दबाने के लिए सेना भेजी, लेकिन संथालों ने शुरू में कई सफलताएं



हासिल कीं। हालांकि, अंततः ब्रिटिश सेना के आधुनिक हथियारों और संगठित बलों के सामने संधाल विद्रोहियों को हार का सामना करना पड़ा। फरवरी 1856 तक, विद्रोह को पूरी तरह से कुचल दिया गया था। सिद्धू और कान्हू दोनों को पकड़ लिया गया और फांसी दे दी गई। अन्य नेताओं को भी गिरफ्तार किया गया और कठोर सजा दी गई। हजारों संधाल विद्रोही और निर्दोष ग्रामीण मारे गए, और कई गांवों को नष्ट कर दिया गया।

परिणाम और महत्व: संधाल विद्रोह के कुछ महत्वपूर्ण परिणाम थे:

- 1856 में, ब्रिटिश सरकार ने संधाल परगना क्षेत्र को बनाया, जिसे "दामिन-ए-कोह" के नाम से भी जाना जाता है, जहां संधालों को कुछ स्वायत्तता प्रदान की गई और गैर-जनजातीय लोगों के प्रवेश को प्रतिबंधित किया गया।
- 1874 में, इस क्षेत्र को भागलपुर और अन्य जिलों से अलग कर दिया गया और इसे एक अलग जिला बनाया गया, जिसे "संधाल परगना" कहा गया।
- औपनिवेशिक प्रशासन ने साहूकारी प्रथाओं और भूमि हस्तांतरण पर कुछ नियंत्रण लागू किए।
- यह विद्रोह भारत में पहले बड़े पैमाने पर जनजातीय विद्रोहों में से एक था और औपनिवेशिक शासन के खिलाफ प्रतिरोध के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना थी।
- विद्रोह ने संधालों में एक मजबूत सामूहिक पहचान और एकता की भावना पैदा की, जो आने वाले वर्षों में उनके राजनीतिक और सामाजिक आंदोलनों का आधार बनी।

संधाल विद्रोह ने औपनिवेशिक शोषण के खिलाफ जनजातीय प्रतिरोध की शक्ति को प्रदर्शित किया और भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में एक महत्वपूर्ण अध्याय बना। यह विद्रोह आज भी संधाल लोगों की सामूहिक स्मृति में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है और उनकी पहचान का एक अभिन्न अंग है।

2. मुंडा विद्रोह (उल्गुलान) - 1899-1900

पृष्ठभूमि और कारण: मुंडा विद्रोह, जिसे "उल्गुलान" (महान हलचल) के नाम से भी जाना जाता है, 1899-1900 में बिरसा मुंडा के नेतृत्व में छोटा नागपुर क्षेत्र (वर्तमान झारखंड) में हुआ था। यह विद्रोह मुंडा जनजाति द्वारा अपने भूमि अधिकारों और सांस्कृतिक पहचान की रक्षा के लिए किया गया था।

विद्रोह के प्रमुख कारण थे:

- ब्रिटिश भूमि व्यवस्था, खासकर 'खुंटकट्टी' प्रथा (मुंडा जनजाति की पारंपरिक सामूहिक भूमि स्वामित्व व्यवस्था) का उन्मूलन
- दि कु (गैर-जनजातीय) जमींदारों, ठेकेदारों, और महाजनों द्वारा मुंडा भूमि का अधिग्रहण
- वन कानूनों के माध्यम से मुंडा जनजाति के पारंपरिक वन अधिकारों का उल्लंघन
- बेगार प्रथा (अवैतनिक श्रम) और भारी कराधान

- मिशनरियों द्वारा धर्मांतरण के प्रयास, जिन्हें मुंडा संस्कृति और धर्म के लिए खतरा माना गया

बिरसा मुंडा और उनका नेतृत्व: बिरसा मुंडा का जन्म 1875 में छोटा नागपुर क्षेत्र में एक मुंडा परिवार में हुआ था। उन्होंने जर्मन मिशनरी स्कूल में शिक्षा प्राप्त की, लेकिन बाद में मिशनरियों से असंतुष्ट होकर पारंपरिक मुंडा धर्म की ओर लौट आए। उन्होंने स्वयं को "धरती आबा" (पृथ्वी पिता) घोषित किया और एक नए धार्मिक आंदोलन की शुरुआत की, जिसे "बिरसाइट" कहा गया।

बिरसा ने "बिरसाइट" धर्म के माध्यम से मुंडाओं के बीच जागृति पैदा की, जिसमें पारंपरिक मुंडा धर्म के तत्वों के साथ-साथ ईसाई और हिंदू तत्व भी शामिल थे। उन्होंने "सत्कि राज" (सत्य का राज्य) की घोषणा की, जिसमें मुंडा लोग अपनी भूमि और स्वायत्तता वापस पा लेंगे।

विद्रोह की घटनाएं: विद्रोह को दो चरणों में विभाजित किया जा सकता है:

1. धार्मिक चरण (1895-1897): इस चरण में, बिरसा ने धार्मिक सुधार और पुनरुत्थान पर ध्यान केंद्रित किया, मिशनरियों और हिंदू प्रभावों का विरोध किया, और मुंडा समुदाय में आत्मगौरव और एकता की भावना पैदा की। उन्होंने स्वयं को दिव्य दूत के रूप में प्रस्तुत किया और अनुयायियों को एकत्रित किया।
2. राजनीतिक चरण (1897-1900): इस चरण में, बिरसा ने अपने आंदोलन को दिकुओं (गैर-जनजातीय उत्पीड़कों) और ब्रिटिश सरकार के खिलाफ सीधे विद्रोह में बदल दिया। दिसंबर 1899 में क्रिसमस की पूर्व संध्या पर, बिरसा ने अपने अनुयायियों (बिरसाइटों) को दिकुओं और ब्रिटिश अधिकारियों पर हमला करने का आह्वान किया।

बिरसाइटों ने पुलिस स्टेशनों, जमींदारों के घरों, और गैर-मुंडा लोगों के गांवों पर हमला किया। उन्होंने खुद को "आबुआ राज" (हमारा राज्य) के नाम से एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की घोषणा की।

ब्रिटिश सरकार ने विद्रोह को दबाने के लिए सेना और पुलिस की बड़ी टुकड़ियां भेजीं। बिरसाइटों ने कड़ा प्रतिरोध किया, लेकिन अंततः ब्रिटिश सेना के आधुनिक हथियारों के सामने हार गए। जनवरी 1900 में, बिरसा मुंडा को गिरफ्तार कर लिया गया और उन्हें रांची जेल में डाल दिया गया, जहां 9 जून, 1900 को हैजा से उनकी मृत्यु हो गई।

परिणाम और महत्व: मुंडा विद्रोह के कुछ महत्वपूर्ण परिणाम थे:

- इस विद्रोह के बाद ब्रिटिश सरकार ने छोटा नागपुर काश्तकारी अधिनियम (1908) पारित किया, जिसने मुंडा भूमि अधिकारों को कुछ सुरक्षा प्रदान की और खुंटकट्टी भूमि को कानूनी मान्यता दी।
- यह अधिनियम जनजातीय भूमि को गैर-जनजातीय लोगों को हस्तांतरित करने पर प्रतिबंध लगाता था और कुछ प्रकार के ऋण और बेगार को गैरकानूनी घोषित करता था।
- विद्रोह ने मुंडा समुदाय में मजबूत सामूहिक पहचान और एकता की भावना पैदा की।



- बिरसा मुंडा "धरती आबा" (पृथ्वी पिता) के रूप में आज भी सम्मानित हैं और झारखंड की जनजातीय पहचान के प्रतीक हैं।
- उनके जन्मदिन (15 नवंबर) को "झारखंड स्थापना दिवस" के रूप में मनाया जाता है, क्योंकि नवंबर 2000 में इसी दिन झारखंड राज्य की स्थापना हुई थी।

मुंडा विद्रोह भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना थी और यह औपनिवेशिक शोषण और भूमि अधिग्रहण के खिलाफ जनजातीय प्रतिरोध का एक शक्तिशाली उदाहरण था। बिरसा मुंडा स्वतंत्रता सेनानी और लोकनायक के रूप में भारतीय इतिहास में अपना विशेष स्थान रखते हैं।

3. कोल विद्रोह - 1831-32

पृष्ठभूमि और कारण: कोल विद्रोह 1831-32 में छोटा नागपुर क्षेत्र (वर्तमान झारखंड) में हुआ था। यह विद्रोह कोल जनजाति (जिसमें मुंडा और हो जनजातियां शामिल थीं) द्वारा औपनिवेशिक शोषण और भूमि अधिग्रहण के खिलाफ किया गया था।

विद्रोह के प्रमुख कारण थे:

- ब्रिटिश भू-राजस्व व्यवस्था का लागू होना, जिसने कोल जनजाति के पारंपरिक भूमि अधिकारों को कमजोर किया
- कोल भूमि का जमींदारों, महाजनों, और व्यापारियों द्वारा अधिग्रहण
- बहारी और बंगाली दिकुओं (गैर-जनजातीय लोगों) का क्षेत्र में प्रवास और उनका बढ़ता प्रभाव
- कोल जनजाति पर लगाए गए भारी कर और बेगार (अवैतनिक श्रम)
- कोल लोगों के सामाजिक-धार्मिक रीति-रिवाजों में हस्तक्षेप

विद्रोह की घटनाएं: विद्रोह का नेतृत्व बुद्धो भगत और सिंग्राय मुंडा जैसे कोल नेताओं ने किया था। दिसंबर 1831 में, कोल विद्रोहियों ने दिकु जमींदारों और व्यापारियों पर हमला करना शुरू किया, उनके घरों और संपत्तियों को नष्ट कर दिया, और कई को मार डाला। विद्रोह जल्द ही छोटा नागपुर के विभिन्न हिस्सों में फैल गया, विशेष रूप से रांची, हजारीबाग, पलामू और मानभूम जिलों में।

ब्रिटिश सरकार ने विद्रोह को दबाने के लिए सेना भेजी। शुरू में, कोल विद्रोहियों ने कई सफलताएं हासिल कीं और ब्रिटिश सेना को भी कुछ नुकसान पहुंचाया। हालांकि, अंततः ब्रिटिश सेना के आधुनिक हथियारों और रणनीति के सामने कोल विद्रोही हार गए। 1832 के मध्य तक, विद्रोह को पूरी तरह से कुचल दिया गया था।

परिणाम और महत्व: कोल विद्रोह के कुछ महत्वपूर्ण परिणाम थे:

- इस विद्रोह के बाद ब्रिटिश सरकार ने छोटा नागपुर को एक "गैर-विनियमित" (नॉन-रेगुलेटेड) क्षेत्र घोषित किया, जिसका अर्थ था कि इस क्षेत्र में विशेष प्रशासनिक व्यवस्था लागू की गई।

- 1834 में, दक्षिण-पश्चिम सीमा क्षेत्र विनियम पारित किया गया, जिसने कोल क्षेत्रों को कुछ विशेष सुरक्षा प्रदान की।
- विद्रोह ने ब्रिटिश सरकार को जनजातीय क्षेत्रों में अपनी नीतियों पर पुनर्विचार करने के लिए मजबूर किया।
- यह विद्रोह बाद में संधाल विद्रोह (1855-56) और मुंडा विद्रोह (1899-1900) जैसे अन्य जनजातीय विद्रोहों की पृष्ठभूमि बना।

कोल विद्रोह भारत में प्रारंभिक जनजातीय विद्रोहों में से एक था, जिसने औपनिवेशिक शासन के खिलाफ प्रतिरोध की परंपरा स्थापित की। यह विद्रोह कोल समुदाय के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना है और उनकी सामूहिक स्मृति में आज भी एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

4. खासी विद्रोह - 1829-33

पृष्ठभूमि और कारण: खासी विद्रोह 1829-33 के बीच वर्तमान मेघालय राज्य के खासी पहाड़ियों में हुआ था। इस विद्रोह का नेतृत्व यू तिरोट सिंग ने किया था, जो नोंगखलो के खासी प्रमुख थे।

विद्रोह के प्रमुख कारण थे:

- ब्रिटिश सरकार द्वारा खासी पहाड़ियों के माध्यम से एक सड़क निर्माण की योजना, जिसे खासी प्रमुखों ने अपनी संप्रभुता पर अतिक्रमण माना
- ब्रिटिश और खासी प्रमुखों के बीच संचार की कमी और गलतफहमी
- ब्रिटिश द्वारा बिना उचित अनुमति के खासी क्षेत्र में प्रवेश
- खासी लोगों के पारंपरिक जीवन और प्रथाओं में हस्तक्षेप
- क्षेत्र में ब्रिटिश सैन्य उपस्थिति और राजनीतिक नियंत्रण का विस्तार

विद्रोह की घटनाएं: अप्रैल 1829 में, खासी विद्रोहियों ने दो ब्रिटिश अधिकारियों (लेफ्टिनेंट बेडिंगफील्ड और लेफ्टिनेंट बरलटन) और कई अन्य लोगों की हत्या कर दी, जो सड़क निर्माण परियोजना से जुड़े थे। इसके बाद, यू तिरोट सिंग ने अन्य खासी प्रमुखों के साथ गठबंधन बनाया और ब्रिटिश सरकार के खिलाफ एक व्यापक विद्रोह शुरू किया।

विद्रोहियों ने ब्रिटिश सैनिकों और सरकारी स्थापनाओं पर हमला किया और गुरिल्ला युद्ध की रणनीति अपनाई। ब्रिटिश सरकार ने विद्रोह को दबाने के लिए बड़ी संख्या में सैनिक भेजे, लेकिन खासी विद्रोहियों की गुरिल्ला युद्ध की रणनीति और पहाड़ी इलाके का ज्ञान उनके पक्ष में था।

हालांकि, अंततः ब्रिटिश सेना की श्रेष्ठ अग्रिमशक्ति और संसाधनों के कारण विद्रोही हार गए। जनवरी 1833 में, यू तिरोट सिंग को तत्कालीन बंगाल प्रेसीडेंसी (वर्तमान बांग्लादेश) में गिरफ्तार कर लिया गया, जहां 17 जुलाई, 1835 को उनकी मृत्यु हो गई।

परिणाम और महत्व: खासी विद्रोह के कुछ महत्वपूर्ण परिणाम थे:

- इस विद्रोह के बाद ब्रिटिश सरकार ने खासी क्षेत्र में अपनी नीतियों में बदलाव किया और खासी प्रमुखों के साथ अधिक सम्मानजनक व्यवहार करने लगी।



- ब्रिटिश सरकार ने खासी प्रमुखों के साथ समझौते किए, जिनमें उनकी कुछ स्वायत्तता को मान्यता दी गई।
- यह विद्रोह उत्तर-पूर्वी भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवादी विस्तार के खिलाफ प्रतिरोध का एक महत्वपूर्ण उदाहरण बन गया।
- यू तिरोत सिंग मेघालय और पूरे उत्तर-पूर्व भारत में एक राष्ट्रीय नायक के रूप में सम्मानित हैं।

खासी विद्रोह ने पूर्वोत्तर भारत में जनजातीय स्वायत्तता और पहचान के मुद्दों को उजागर किया, जो आज भी प्रासंगिक हैं। यू तिरोत सिंग की वीरता और साहस की कहानी खासी लोगों की सामूहिक स्मृति में आज भी जीवित है।

5. कोया विद्रोह - 1879-80

पृष्ठभूमि और कारण: कोया विद्रोह 1879-80 में वर्तमान आंध्र प्रदेश के गोदावरी क्षेत्र में हुआ था। कोया (या कोई) एक प्रमुख जनजाति है जो आंध्र प्रदेश और उड़ीसा के सीमावर्ती क्षेत्रों में निवास करती है।

विद्रोह के प्रमुख कारण थे:

- मंजी (जमींदार) और सरकारी अधिकारियों द्वारा कोया जनजाति का आर्थिक शोषण
- भारी कराधान और बेगार प्रथा
- वन कानूनों के माध्यम से कोया जनजाति के पारंपरिक वन अधिकारों का उल्लंघन
- माणिक राव नामक एक रेवेन्यू कलेक्टर द्वारा कोया महिलाओं के साथ दुर्व्यवहार
- कोया क्षेत्र में गैर-जनजातीय लोगों के प्रवेश और उनका बढ़ता प्रभाव

विद्रोह की घटनाएं: विद्रोह का नेतृत्व टोमबू धोरा (जिसे "रामपा रेबेलियन" के नाम से भी जाना जाता है) ने किया था। उन्होंने कोया जनजाति को संगठित किया और सरकारी अधिकारियों और जमींदारों के खिलाफ विद्रोह शुरू किया। विद्रोहियों ने पुलिस स्टेशनों, सरकारी कार्यालयों और जमींदारों के घरों पर हमला किया।

ब्रिटिश सरकार ने विद्रोह को दबाने के लिए सेना भेजी, लेकिन कोया विद्रोहियों ने घने जंगलों और पहाड़ी इलाकों में छिपकर गुरिल्ला युद्ध की रणनीति अपनाई। विद्रोह लगभग एक साल तक चला और अंततः 1880 में इसे कुचल दिया गया।

परिणाम और महत्व: कोया विद्रोह के कुछ महत्वपूर्ण परिणाम थे:

- इस विद्रोह के बाद ब्रिटिश सरकार ने इस क्षेत्र में अपनी प्रशासनिक नीतियों में कुछ बदलाव किए।
- कोया लोगों पर लगाए गए कुछ करों में कमी की गई।
- टोमबू धोरा आंध्र प्रदेश में एक लोकप्रिय जनजातीय नायक बन गए।
- यह विद्रोह दक्षिण भारत में जनजातीय अधिकारों के लिए संघर्ष का एक महत्वपूर्ण

उदाहरण बना।

कोया विद्रोह ने दक्षिण भारत में जनजातीय अधिकारों और उनकी पहचान के मुद्दों को उजागर किया और औपनिवेशिक शोषण के खिलाफ प्रतिरोध का एक महत्वपूर्ण उदाहरण बन गया।

6. भील विद्रोह - 1818-31

पृष्ठभूमि और कारण: भील विद्रोह 1818-31 के बीच पश्चिमी भारत के खंडेश, महाराष्ट्र और गुजरात क्षेत्रों में हुए थे। भील एक प्रमुख जनजाति है जो पश्चिमी और मध्य भारत में निवास करती है।

विद्रोह के प्रमुख कारण थे:

- मराठा युद्धों के बाद ब्रिटिश सरकार द्वारा इस क्षेत्र पर नियंत्रण जिसने भील स्वायत्तता को प्रभावित किया
- वन कानूनों के माध्यम से भील जनजाति के पारंपरिक वन अधिकारों का उल्लंघन
- भील लोगों पर लगाए गए भारी कर और बेगार प्रथा
- ब्रिटिश और मराठा प्रशासन द्वारा भील प्रमुखों की शक्ति का कमजोर होना
- भील क्षेत्र में गैर-जनजातीय लोगों का बढ़ता प्रभाव

विद्रोह की घटनाएं: विद्रोह का नेतृत्व सेवराम नाइक, कानजा नाइक, और गोविंद गरासिया जैसे भील नेताओं ने किया था। 1818 में, खंडेश क्षेत्र में पहला बड़ा विद्रोह शुरू हुआ, जब भील विद्रोहियों ने ब्रिटिश पोस्टों और गैर-जनजातीय बस्तियों पर हमला किया।

1825 में, सेवराम नाइक के नेतृत्व में एक और बड़ा विद्रोह हुआ। उन्होंने भील लोगों को संगठित किया और ब्रिटिश सरकार के खिलाफ सशस्त्र संघर्ष शुरू किया। विद्रोहियों ने मुख्य रूप से गुरिल्ला युद्ध की रणनीति अपनाई, जंगलों और पहाड़ी इलाकों में छिपकर ब्रिटिश सैनिकों पर हमला करते थे।

ब्रिटिश सरकार ने विद्रोह को दबाने के लिए बड़ी संख्या में सैनिक भेजे और कई भील गांवों को नष्ट कर दिया। अंततः, 1831 तक अधिकांश विद्रोह को कुचल दिया गया था।

परिणाम और महत्व: भील विद्रोह के कुछ महत्वपूर्ण परिणाम थे:

- इन विद्रोहों के बाद ब्रिटिश सरकार ने भील क्षेत्र में अपनी नीतियों में कुछ बदलाव किए।
- भील कॉर्प्स की स्थापना की गई, जिसने भील युवाओं को सेना में भर्ती होने का अवसर दिया।
- कुछ भील प्रमुखों को स्थानीय प्रशासन में शामिल किया गया।
- कुछ क्षेत्रों में भील लोगों के पारंपरिक अधिकारों को मान्यता दी गई।

भील विद्रोह पश्चिमी भारत में औपनिवेशिक शासन के खिलाफ प्रतिरोध का एक महत्वपूर्ण उदाहरण था और जनजातीय अधिकारों के लिए संघर्ष की परंपरा का हिस्सा बना।

7. खोंड विद्रोह - 1835-37

पृष्ठभूमि और कारण: खोंड विद्रोह 1835-37 के बीच वर्तमान ओडिशा के गंजम और फूलबनी क्षेत्रों



में हुआ था। खोंड (या कंध) एक प्रमुख जनजाति है जो ओडिशा के पहाड़ी क्षेत्रों में निवास करती है।

विद्रोह के प्रमुख कारण थे:

- ब्रिटिश सरकार द्वारा मेरिया प्रथा (मानव बलिदान) पर प्रतिबंध, जो खोंड धार्मिक अनुष्ठानों का एक हिस्सा था
- खोंड क्षेत्र में ब्रिटिश प्रशासनिक हस्तक्षेप
- ब्रिटिश सरकार द्वारा खोंड भूमि का अधिग्रहण
- खोंड लोगों पर लगाए गए भारी कर
- खोंड क्षेत्र में मिशनरियों का प्रवेश और धर्मांतरण के प्रयास

विद्रोह की घटनाएं: विद्रोह का नेतृत्व चक्र बिसोई ने किया था। 1835 में, खोंड विद्रोहियों ने ब्रिटिश पोस्टों और सरकारी स्थापनाओं पर हमला करना शुरू किया। उन्होंने मेरिया प्रथा पर प्रतिबंध का विरोध किया और अपने पारंपरिक धार्मिक अनुष्ठानों को जारी रखने की मांग की।

ब्रिटिश सरकार ने विद्रोह को दबाने के लिए सेना भेजी, लेकिन खोंड विद्रोही पहाड़ी इलाकों में छिपकर गुरिल्ला युद्ध की रणनीति अपनाते रहे। विद्रोह कई वर्षों तक चला और अंततः 1837 में इसे कुचल दिया गया।

परिणाम और महत्व: खोंड विद्रोह के कुछ महत्वपूर्ण परिणाम थे:

- इस विद्रोह के बाद भी ब्रिटिश सरकार ने मेरिया प्रथा पर प्रतिबंध जारी रखा, लेकिन इसे धीरे-धीरे और अधिक सावधानी से लागू किया।
- खोंड क्षेत्र में प्रशासनिक सुधार किए गए और कुछ खोंड प्रमुखों को स्थानीय प्रशासन में शामिल किया गया।
- ब्रिटिश सरकार ने खोंड संस्कृति और प्रथाओं को समझने के लिए अधिक प्रयास किए।

खोंड विद्रोह धार्मिक और सांस्कृतिक स्वतंत्रता के लिए जनजातीय संघर्ष का एक महत्वपूर्ण उदाहरण था और औपनिवेशिक हस्तक्षेप के खिलाफ प्रतिरोध की परंपरा का हिस्सा बना।

8. नागा विद्रोह - 1879-80 और बाद में

पृष्ठभूमि और कारण: नागा विद्रोह 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और 20वीं शताब्दी के दौरान वर्तमान नागालैंड में हुए थे। नागा विभिन्न जनजातियों का एक समूह है जो उत्तर-पूर्वी भारत में निवास करता है।

विद्रोह के प्रमुख कारण थे:

- नागा क्षेत्र में ब्रिटिश प्रशासनिक विस्तार
- नागा गांवों पर कर लगाने के ब्रिटिश प्रयास
- नागा क्षेत्र में मिशनरियों का प्रवेश और धर्मांतरण के प्रयास
- नागा स्वायत्तता और स्वतंत्रता की परंपरागत भावना

- ब्रिटिश सरकार द्वारा नागा क्षेत्र का विभाजन और पुनर्गठन

विद्रोह की घटनाएं: 1879 में, अंगामी नागा जनजाति के नेतृत्व में पहला बड़ा विद्रोह शुरू हुआ। विद्रोहियों ने कोहिमा में ब्रिटिश रेजिडेंसी पर हमला किया और कई ब्रिटिश अधिकारियों को मार डाला। ब्रिटिश सरकार ने विद्रोह को दबाने के लिए सेना भेजी, लेकिन नागा विद्रोहियों ने मजबूत प्रतिरोध दिखाया।

विद्रोह के बाद भी, नागा क्षेत्र में अशांति जारी रही और विभिन्न नागा जनजातियों ने ब्रिटिश शासन के खिलाफ छोटे-छोटे विद्रोह करते रहे। 1918 में, जाडोनांग के नेतृत्व में एक और बड़ा विद्रोह हुआ, जिसे "काचा नागा आंदोलन" के नाम से जाना जाता है।

परिणाम और महत्व: नागा विद्रोह के कुछ महत्वपूर्ण परिणाम थे:

- इन विद्रोहों के बाद ब्रिटिश सरकार ने नागा क्षेत्र को "बाहरी रेखा" क्षेत्र के रूप में पुनर्वर्गीकृत किया, जहां सामान्य प्रशासनिक नियम लागू नहीं होते थे।
- नागा पहाड़ियों में कुछ क्षेत्रों को "अप्रशासित क्षेत्र" घोषित किया गया, जहां ब्रिटिश प्रशासन का सीमित नियंत्रण था।
- इन विद्रोहों ने नागा पहचान और एकता की भावना को मजबूत किया, जो बाद में स्वतंत्र नागालैंड के लिए आंदोलन का आधार बना।

नागा विद्रोह उत्तर-पूर्वी भारत में औपनिवेशिक शासन के खिलाफ प्रतिरोध का एक महत्वपूर्ण उदाहरण था और जनजातीय स्वायत्तता और स्वतंत्रता के लिए संघर्ष की परंपरा का हिस्सा बना।

9. बस्तर विद्रोह (भूमकाल) - 1910

पृष्ठभूमि और कारण: बस्तर विद्रोह, जिसे "भूमकाल" के नाम से भी जाना जाता है, 1910 में वर्तमान छत्तीसगढ़ के बस्तर क्षेत्र में हुआ था। इस क्षेत्र में गोंड, मारिया, मुरिया, और धुर्वा जैसी कई जनजातियां निवास करती थीं।

विद्रोह के प्रमुख कारण थे:

- ब्रिटिश वन विभाग द्वारा लागू किए गए कठोर वन कानून, जिन्होंने जनजातियों के पारंपरिक वन अधिकारों को प्रतिबंधित किया
- जनजातीय क्षेत्रों में "आबकारी नीति" का लागू किया जाना, जिसने महुआ फूलों के संग्रह और शराब बनाने पर प्रतिबंध लगा दिया
- "मालगुजारी" प्रथा, जिसके तहत जनजातियों पर भारी कर लगाए गए
- बस्तर राज्य के दीवान अद्वैतानंद (ब्रिटिश एजेंट) की शोषणकारी नीतियां
- बेगार प्रथा, जिसके तहत जनजातियों को अवैतनिक श्रम करना पड़ता था

विद्रोह की घटनाएं: विद्रोह का नेतृत्व गुंडाधुर नामक एक गोंड नेता ने किया था। फरवरी 1910 में, बस्तर के विभिन्न हिस्सों में जनजातीय लोगों ने वन विभाग के अधिकारियों, पुलिस स्टेशनों, और सरकारी स्थापनाओं पर हमला करना शुरू किया। विद्रोहियों ने "भूमकाल" (भूकंप या महान



विनाश) की घोषणा की और ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने का आह्वान किया।

विद्रोहियों ने जगदलपुर (बस्तर की राजधानी) पर हमला करने की कोशिश की, लेकिन उन्हें ब्रिटिश सेना द्वारा रोक दिया गया। मार्च 1910 तक, ब्रिटिश सरकार ने बड़ी संख्या में सैनिक भेजे और विद्रोह को कुचलने के लिए कठोर कार्रवाई की। सैकड़ों विद्रोही मारे गए और कई को गिरफ्तार कर लिया गया।

परिणाम और महत्व: बस्तर विद्रोह के कुछ महत्वपूर्ण परिणाम थे:

- इस विद्रोह के बाद ब्रिटिश सरकार ने बस्तर में अपनी कुछ नीतियों में संशोधन किया।
- वन विभाग के कुछ कठोर नियमों में ढील दी गई।
- दीवान अद्वैतानंद को हटा दिया गया और कुछ शोषणकारी प्रथाओं पर अंकुश लगाया गया।

इकाई 26: भारत में दलित आंदोलन

भारतीय समाज में दलित आंदोलन का इतिहास सदियों पुराने सामाजिक अन्याय, भेदभाव और उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष का प्रतिबिंब है। 'दलित' शब्द, जिसका अर्थ है 'दबाया गया' या 'कुचला गया', उन समुदायों को संदर्भित करता है जो पारंपरिक हिंदू वर्ण व्यवस्था के बाहर रहे हैं और जिन्हें ऐतिहासिक रूप से 'अछूत' या 'अस्पृश्य' माना जाता था। भारत के स्वतंत्रता संग्राम के दौरान और स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद, दलित आंदोलन ने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समानता के लिए एक महत्वपूर्ण संघर्ष चलाया है। यह आंदोलन केवल अधिकारों की मांग तक सीमित नहीं रहा, बल्कि इसका उद्देश्य भारतीय समाज की पूरी संरचना को बदलना और एक ऐसा समाज बनाना रहा है जहां सभी नागरिकों के साथ समान व्यवहार किया जाए। इस अध्याय में, हम भारत में दलित आंदोलन के विकास, इसके प्रमुख नेताओं, आंदोलन के विभिन्न चरणों, इसकी उपलब्धियों और वर्तमान चुनौतियों का विस्तृत अध्ययन करेंगे।

दलित आंदोलन का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

भारत में दलित आंदोलन की जड़ें हजारों वर्ष पुरानी हैं। वैदिक काल से ही समाज में वर्ण आधारित विभाजन का उल्लेख मिलता है, जिसने कालांतर में जाति व्यवस्था का रूप ले लिया। बौद्ध धर्म के उदय को दलित मुक्ति का प्रथम महत्वपूर्ण आंदोलन माना जा सकता है, क्योंकि गौतम बुद्ध ने जाति आधारित भेदभाव का विरोध किया और सभी मनुष्यों की समानता का प्रचार किया। मध्यकालीन भारत में भक्ति आंदोलन के कई संत और गुरु, जैसे रविदास, कबीर, नानक, चोखामेला और तुकाराम ने जाति व्यवस्था की आलोचना की और समानता का संदेश दिया। इन प्रारंभिक आंदोलनों ने आधुनिक दलित आंदोलन की आधारशिला रखी, जिसे 19वीं और 20वीं शताब्दी में अधिक संगठित रूप मिला।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, ब्रिटिश शासन के दौरान, शिक्षा के प्रसार और नए सामाजिक-राजनीतिक विचारों के प्रभाव से दलित समुदायों में जागृति आनी शुरू हुई। ज्योतिराव फुले (1827-1890) को आधुनिक दलित आंदोलन के अग्रदूतों में से एक माना जाता है। महाराष्ट्र में जन्मे

फुले ने 1873 में 'सत्यशोधक समाज' की स्थापना की, जिसका उद्देश्य निम्न जातियों और महिलाओं को शिक्षा प्रदान करना और उन्हें ब्राह्मणवादी वर्चस्व से मुक्त कराना था। फुले ने अपनी पुस्तक 'गुलामगिरी' (1873) में जाति व्यवस्था की कड़ी आलोचना की और इसे मानवीय गुलामी का एक रूप बताया। उन्होंने अछूतों और शूद्रों को 'बहुजन समाज' के रूप में संगठित होने का आह्वान किया और उनके सामाजिक और शैक्षिक उत्थान पर बल दिया।

20वीं शताब्दी के प्रारंभ में, अछूतों के अधिकारों के लिए कई क्षेत्रीय आंदोलन उभरे। दक्षिण भारत में, पेरियार ई.वी. रामास्वामी नायकर (1879-1973) ने 'आत्म-सम्मान आंदोलन' (Self-Respect Movement) शुरू किया, जिसने जाति व्यवस्था, ब्राह्मणवाद और धार्मिक अंधविश्वासों का विरोध किया। पेरियार ने तर्क और वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर आधारित एक समतावादी समाज की वकालत की। महाराष्ट्र में, छत्रपति शाहू महाराज (1874-1922) ने अपने राज्य कोल्हापुर में दलितों के उत्थान के लिए कई प्रगतिशील कदम उठाए, जिनमें शिक्षा के अवसर प्रदान करना और सरकारी नौकरियों में आरक्षण शामिल था।

डॉ. भीमराव अंबेडकर और दलित आंदोलन

डॉ. भीमराव अंबेडकर (1891-1956) भारतीय दलित आंदोलन के सबसे प्रभावशाली नेता और प्रेरणास्रोत हैं। एक महार जाति (अछूत जाति) में जन्मे अंबेडकर ने अपने जीवन में गहरे भेदभाव का अनुभव किया। अपनी असाधारण प्रतिभा और परिश्रम के बल पर, वे कोलंबिया विश्वविद्यालय और लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स से उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाले पहले दलितों में से एक बने। एक प्रसिद्ध विधिवेत्ता, अर्थशास्त्री, राजनीतिक नेता और समाज सुधारक के रूप में, अंबेडकर ने दलित मुक्ति आंदोलन को एक नई दिशा और व्यापक दृष्टिकोण प्रदान किया।

1920 के दशक में, अंबेडकर ने दलितों के अधिकारों के लिए सक्रिय संघर्ष शुरू किया। 1924 में, उन्होंने 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा' की स्थापना की, जिसका उद्देश्य दलितों के बीच शिक्षा का प्रसार और उनके सामाजिक कल्याण को बढ़ावा देना था। 1927 में, उन्होंने महाराष्ट्र के महाड में एक ऐतिहासिक सत्याग्रह का नेतृत्व किया, जिसमें हजारों दलितों ने चवदार तालाब से पानी पीकर अछूत-प्रथा का विरोध किया। इसी वर्ष, अंबेडकर ने मनुस्मृति का सार्वजनिक दहन किया, जिसे वे जाति-आधारित भेदभाव का मूल स्रोत मानते थे।

1930 के दशक में, अंबेडकर ने अपनी राजनीतिक गतिविधियों को और अधिक सक्रिय किया। 1936 में, उन्होंने स्वतंत्र लेबर पार्टी की स्थापना की, जो बाद में रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इंडिया में विकसित हुई। 1930 के गोलमेज सम्मेलनों में, अंबेडकर ने दलितों के लिए पृथक निर्वाचक मंडल की मांग की, जिसका महात्मा गांधी ने विरोध किया। इस विवाद का समाधान 1932 के पूना पैक्ट (या कम्युनल अवार्ड) के माध्यम से हुआ, जिसमें दलितों के लिए आरक्षित सीटों का प्रावधान किया गया, लेकिन पृथक निर्वाचक मंडल की मांग छोड़ दी गई।

अंबेडकर की सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक उपलब्धि भारतीय संविधान के निर्माण में उनकी



भूमिका थी। स्वतंत्र भारत के प्रथम कानून मंत्री और संविधान सभा की प्रारूप समिति के अध्यक्ष के रूप में, अंबेडकर ने भारतीय संविधान में सामाजिक न्याय, स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व के मूल्यों को सुनिश्चित किया। संविधान के अनुच्छेद 17 ने अस्पृश्यता को गैरकानूनी घोषित किया, और अनुच्छेद 15 और 16 ने जाति के आधार पर भेदभाव पर प्रतिबंध लगाया। इसके अलावा, अंबेडकर ने अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए शिक्षा, रोजगार और राजनीतिक प्रतिनिधित्व में आरक्षण का प्रावधान सुनिश्चित किया।

अंबेडकर का दार्शनिक योगदान भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। उनकी पुस्तकें जैसे 'जाति का विनाश', 'बुद्ध और उनका धम्म', और 'अछूत' में उन्होंने हिंदू धर्म की आलोचनात्मक समीक्षा की और बौद्ध धर्म के तर्कसंगत और समतावादी सिद्धांतों की वकालत की। अंबेडकर ने दलित मुक्ति के लिए "शिक्षित बनो, संगठित हो और संघर्ष करो" का नारा दिया, जो आज भी दलित आंदोलन की मूल प्रेरणा है।

1956 में, जीवन के अंतिम चरण में, अंबेडकर ने बौद्ध धर्म अपनाया और नागपुर में एक विशाल समारोह में लाखों अनुयायियों के साथ बौद्ध धर्म में परिवर्तित हुए। उन्होंने बौद्ध धर्म को सामाजिक समानता और मुक्ति का मार्ग माना। अंबेडकर के धर्म परिवर्तन ने दलित आंदोलन को एक नया आयाम दिया और पहचान की राजनीति पर बहस छेड़ दी, जो आज भी जारी है।

स्वतंत्रता के बाद का दलित आंदोलन

भारत की स्वतंत्रता के बाद, दलित आंदोलन ने नए राष्ट्र में अपनी पहचान और स्थान को परिभाषित करने का प्रयास किया। संविधान में दलितों के अधिकारों की गारंटी और अस्पृश्यता के उन्मूलन के बावजूद, वास्तविक सामाजिक परिवर्तन धीमी गति से हो रहा था। 1950 और 60 के दशक में, दलित आंदोलन मुख्य रूप से संवैधानिक प्रावधानों के कार्यान्वयन और विकास के लाभों को दलित समुदायों तक पहुंचाने पर केंद्रित था।

इस अवधि के दौरान, दलित आंदोलन को कई चुनौतियों का सामना करना पड़ा। एक ओर, सरकारी नीतियों और कार्यक्रमों ने दलितों के सशक्तिकरण का वादा किया, दूसरी ओर, जाति आधारित हिंसा और भेदभाव जारी रहा। ग्रामीण क्षेत्रों में, दलितों पर अत्याचार, भूमि से बेदखली और सामाजिक बहिष्कार के मामले आम थे। शहरी क्षेत्रों में, शिक्षा और रोजगार में आरक्षण का विरोध और संस्थागत भेदभाव चिंता के विषय बने रहे।

1970 के दशक में, दलित आंदोलन में एक नया मोड़ आया जब युवा दलित कार्यकर्ताओं और बुद्धिजीवियों ने अधिक आक्रामक और स्वायत्त राजनीतिक दृष्टिकोण अपनाना शुरू किया। 1972 में, महाराष्ट्र में युवा दलित कवियों, लेखकों और कार्यकर्ताओं द्वारा 'दलित पैथर्स' की स्थापना की गई, जो अमेरिका के 'ब्लैक पैथर्स' से प्रेरित थी। इस आंदोलन ने दलित साहित्य और कला के माध्यम से जाति-उत्पीड़न के विरुद्ध आवाज उठाई और दलित पहचान और गौरव पर बल दिया। नामदेव ढसाल, राजा ढाले और अरुण कांबले जैसे कवियों और लेखकों ने दलित अनुभव को

अभिव्यक्त करने के लिए एक नया और शक्तिशाली साहित्यिक रूप विकसित किया।

1980 के दशक में, दलित आंदोलन का राजनीतिक प्रभाव बढ़ा जब दलित समुदायों ने अपने राजनीतिक प्रतिनिधित्व के लिए अधिक सक्रिय भूमिका निभाना शुरू किया। इस अवधि के दौरान, कांशीराम (1934-2006) ने 1984 में बहुजन समाज पार्टी (बीएसपी) की स्थापना की, जिसका उद्देश्य दलितों, आदिवासियों, पिछड़े वर्गों और अल्पसंख्यकों को एक राजनीतिक मंच पर लाना था। बीएसपी ने "बहुजन समाज" (बहुसंख्यक समाज) की अवधारणा को बढ़ावा दिया, जो फुले के विचारों से प्रेरित थी, और इसने जाति-आधारित राजनीति को एक नया आयाम दिया।

1990 के दशक में, बीएसपी ने उत्तर प्रदेश राज्य में महत्वपूर्ण राजनीतिक सफलता हासिल की, और मायावती, जो एक दलित महिला हैं, चार बार राज्य की मुख्यमंत्री बनीं। मायावती के नेतृत्व में, बीएसपी ने दलित राजनीतिक शक्ति के प्रतीक के रूप में खुद को स्थापित किया और भारतीय राजनीति में जाति के महत्व को रेखांकित किया। इस अवधि के दौरान, दलित आंदोलन ने न केवल राजनीतिक शक्ति हासिल करने पर ध्यान केंद्रित किया, बल्कि दलित प्रतीकवाद और पहचान की राजनीति को भी बढ़ावा दिया। अंबेडकर की मूर्तियों की स्थापना, दलित नायकों की जयंती का आयोजन और दलित इतिहास का पुनर्लेखन इस रणनीति के महत्वपूर्ण पहलू बन गए।

दलित फेमिनिज्म और महिला सशक्तिकरण

दलित आंदोलन के भीतर, दलित महिलाओं की विशिष्ट चुनौतियों और उनके संघर्षों को लंबे समय तक अनदेखा किया गया था। दलित महिलाएं "दोहरे उत्पीड़न" का सामना करती हैं - एक ओर जाति-आधारित भेदभाव और दूसरी ओर लिंग-आधारित असमानता। 1990 के दशक में, दलित फेमिनिज्म ने एक विशिष्ट विचारधारा के रूप में आकार लेना शुरू किया, जो मुख्यधारा के फेमिनिज्म और दलित आंदोलन दोनों से अलग था।

दलित फेमिनिस्ट विचारकों और कार्यकर्ताओं, जैसे रूथ मनोरमा, गौरी विश्वनाथन, प्रमिला कदम और शर्मिला रेगे ने दलित महिलाओं के अनुभवों और संघर्षों को स्वर दिया। उन्होंने दलित आंदोलन में पुरुष वर्चस्व और मुख्यधारा के फेमिनिज्म में उच्च जाति के पूर्वाग्रहों की आलोचना की। दलित फेमिनिज्म ने जाति, वर्ग और लिंग के अंतर्संबंधों पर प्रकाश डाला और दलित महिलाओं के लिए एक अलग राजनीतिक एजेंडा विकसित किया।

महत्वपूर्ण दलित फेमिनिस्ट संगठनों में से एक 'नेशनल फेडरेशन ऑफ दलित वीमेन' है, जिसकी स्थापना 1995 में हुई थी। इस संगठन ने दलित महिलाओं पर हिंसा, उनके आर्थिक शोषण और राजनीतिक हाशिएकरण के मुद्दों पर ध्यान केंद्रित किया है। दलित महिला कार्यकर्ताओं ने शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार और राजनीतिक प्रतिनिधित्व के क्षेत्र में दलित महिलाओं के अधिकारों के लिए लड़ाई लड़ी है।

दलित फेमिनिज्म ने साहित्य और कला के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया है। बेबी कांबले, कुमुद पावड़े, अर्जुन डांगले और सुमित्रा भावे जैसे दलित महिला लेखकों ने अपनी आत्मकथाओं



और कविताओं के माध्यम से जाति और लिंग उत्पीड़न के विरुद्ध आवाज उठाई है। इन लेखकों ने दलित महिलाओं के जीवन, उनके संघर्षों और प्रतिरोध की गाथाओं को सामने लाया है, जिससे दलित फेमिनिस्ट साहित्य का एक समृद्ध कोष तैयार हुआ है।

21वीं सदी में, दलित महिलाओं ने विभिन्न क्षेत्रों में अपनी उपस्थिति दर्ज कराई है, जिनमें शिक्षा, साहित्य, कला, प्रशासन, राजनीति और सामाजिक कार्य शामिल हैं। हालांकि, उनके सामने अभी भी कई चुनौतियां हैं, जैसे सामाजिक भेदभाव, हिंसा, शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं तक सीमित पहुंच, और आर्थिक असुरक्षा। दलित फेमिनिज्म का संघर्ष इन चुनौतियों का सामना करने और दलित महिलाओं के लिए न्याय और सम्मान सुनिश्चित करने के लिए जारी है।

आधुनिक दलित आंदोलन और नई चुनौतियां

21वीं सदी में प्रवेश करते हुए, दलित आंदोलन ने नई चुनौतियों और अवसरों का सामना किया है। वैश्वीकरण, उदारीकरण और निजीकरण के युग में, दलित समुदायों के सामने नई आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियां उत्पन्न हुई हैं। एक ओर, आर्थिक उदारीकरण ने कुछ दलितों के लिए नए अवसर प्रदान किए हैं, दूसरी ओर, बाजार-आधारित अर्थव्यवस्था में असमानताएं बढ़ी हैं और सार्वजनिक क्षेत्र में नौकरियों में कमी आई है, जिससे आरक्षण नीतियों का प्रभाव कम हुआ है।

इस नए परिदृश्य में, दलित आंदोलन के भीतर विविध दृष्टिकोण और रणनीतियां उभरी हैं। कुछ दलित संगठन और नेता, जैसे राष्ट्रीय दलित मानवाधिकार अभियान और अरुंधति रॉय जैसे समर्थक, नव-उदारवादी नीतियों और निजीकरण का विरोध करते हैं और सामाजिक न्याय पर आधारित विकास मॉडल की वकालत करते हैं। वे भूमि अधिकारों, वनवासियों के अधिकारों और पर्यावरणीय न्याय जैसे मुद्दों पर आदिवासी और अन्य हाशिए के समूहों के साथ गठबंधन बनाते हैं।

दूसरी ओर, चंद्रभान प्रसाद जैसे दलित बुद्धिजीवी "दलित पूंजीवाद" की अवधारणा का समर्थन करते हैं। वे तर्क देते हैं कि आर्थिक सशक्तिकरण और उद्यमिता दलित मुक्ति का महत्वपूर्ण हिस्सा है, और दलित समुदायों को निजी क्षेत्र में अवसरों का लाभ उठाना चाहिए। द दलित इंडियन चैंबर ऑफ कॉमर्स एंड इंडस्ट्री (DICCI) की स्थापना 2005 में इसी विचार से की गई थी, जिसका उद्देश्य दलित उद्यमियों को बढ़ावा देना और "दलित पूंजीवाद" के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन लाना है।

आधुनिक दलित आंदोलन के लिए एक अन्य महत्वपूर्ण क्षेत्र शिक्षा है। हालांकि संवैधानिक प्रावधानों और आरक्षण नीतियों के कारण दलित छात्रों के लिए उच्च शिक्षा के अवसर बढ़े हैं, लेकिन शैक्षिक संस्थानों में जाति-आधारित भेदभाव और बहिष्कार के मामले अभी भी होते हैं। हैदराबाद केंद्रीय विश्वविद्यालय में 2016 में रोहित वेमुला की आत्महत्या और इस घटना के बाद देशभर में छात्रों के विरोध प्रदर्शन ने शैक्षिक संस्थानों में दलित छात्रों की स्थिति पर महत्वपूर्ण बहस छेड़ दी।

इन विरोध प्रदर्शनों के दौरान, "जय भीम" (अंबेडकर की जय) और "लाल सलाम" (कम्युनिस्ट अभिवादन) के नारों का मिलना दलित और वामपंथी आंदोलनों के बीच एक नए गठबंधन का संकेत था। यह "अंबेडकरवाद" और "मार्क्सवाद" के बीच संवाद और संश्लेषण का प्रतिनिधित्व

करता है, जो आधुनिक दलित आंदोलन की एक महत्वपूर्ण विशेषता बन गई है।

डिजिटल युग ने दलित आंदोलन को नए प्लेटफॉर्म और अभिव्यक्ति के माध्यम प्रदान किए हैं। सोशल मीडिया, ब्लॉग्स, ऑनलाइन पत्रिकाएं और वेबसाइट्स दलित आवाज़ों और विचारों के प्रसार के लिए महत्वपूर्ण माध्यम बन गए हैं। "राउंड टेबल इंडिया", "अम्बेडकराइट", "दलित कैमरा" और "सवर्ण लोकतंत्र" जैसे ऑनलाइन प्लेटफॉर्म दलित परिप्रेक्ष्य से समाचार, विश्लेषण और बहस प्रदान करते हैं। इन डिजिटल प्लेटफॉर्मों ने दलित युवाओं को जुड़ने, संगठित होने और अपने विचारों को व्यक्त करने का अवसर दिया है, जिससे आंदोलन को नई ऊर्जा और दिशा मिली है।

अंतरराष्ट्रीय स्तर पर, दलित आंदोलन ने मानवाधिकार संगठनों, संयुक्त राष्ट्र निकायों और वैश्विक सिविल सोसायटी के साथ संबंध स्थापित किए हैं। 2001 में, दलित संगठनों ने दक्षिण अफ्रीका के डरबन में आयोजित नस्लवाद के खिलाफ विश्व सम्मेलन में भाग लिया और जाति-आधारित भेदभाव को नस्लवाद के एक रूप के रूप में मान्यता देने की मांग की। इंटरनेशनल दलित सॉलिडैरिटी नेटवर्क जैसे अंतरराष्ट्रीय संगठन दलित मुद्दों को वैश्विक मंच पर उठाते हैं और दलित आंदोलन के लिए अंतरराष्ट्रीय समर्थन जुटाते हैं।

आधुनिक दलित आंदोलन के सामने कई चुनौतियां हैं। जाति-आधारित हिंसा और अत्याचार अभी भी भारतीय समाज की दुखद वास्तविकता हैं। राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो के आंकड़े बताते हैं कि दलितों के खिलाफ अपराध के मामले हर साल बढ़ रहे हैं। हाथरस (2020) और उन्नाव (2018) जैसे मामले, जहां दलित महिलाओं के साथ बलात्कार और हत्या की गई, जाति-आधारित हिंसा की निरंतरता को दर्शाते हैं।

आरक्षण नीतियों पर विवाद और विरोध एक अन्य महत्वपूर्ण चुनौती है। उच्च जाति के समूहों द्वारा आरक्षण के विस्तार की मांग और "आरक्षण विरोधी" आंदोलन आरक्षण नीतियों को कमजोर करने का प्रयास करते हैं। सरकारी नौकरियों में निजीकरण और संविदा प्रथा ने आरक्षण नीतियों के प्रभाव को कम किया है, जिससे दलित समुदायों के आर्थिक अवसरों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है।

इन चुनौतियों के बावजूद, दलित आंदोलन शिक्षा, राजनीति, आर्थिक विकास, साहित्य और कला के माध्यम से अपने संघर्ष को जारी रखे हुए है। इसका उद्देश्य न केवल दलितों के अधिकारों की रक्षा करना है, बल्कि एक ऐसा समाज बनाना भी है जहां जाति-आधारित भेदभाव और असमानता का अंत हो।

दलित साहित्य और सांस्कृतिक आंदोलन

दलित साहित्य और सांस्कृतिक आंदोलन दलित मुक्ति संघर्ष का एक महत्वपूर्ण हिस्सा रहा है। यह आंदोलन दलित अनुभवों, उनके संघर्षों, प्रतिरोध और आकांक्षाओं को साहित्य, कला और संस्कृति के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। दलित साहित्य का उदय महाराष्ट्र में 1960 के दशक में हुआ, जब दलित लेखकों और कवियों ने परंपरागत साहित्यिक मानदंडों और विषयों को चुनौती देना



शुरू किया और अपने जीवन के अनुभवों को लिखना शुरू किया। दलित साहित्य की मूल प्रेरणा डॉ. अंबेडकर के विचार और दृष्टिकोण हैं। अंबेडकर के "शिक्षित बनो, संगठित हो और संघर्ष करो" के आह्वान ने दलित लेखकों को अपनी कलम के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन के लिए संघर्ष करने के लिए प्रेरित किया। दलित साहित्य आंदोलन ने परंपरागत हिंदू धर्म, जाति व्यवस्था, ब्राह्मणवादी साहित्यिक परंपराओं और मूल्यों की आलोचना की, और मानवीय गरिमा, समानता और सामाजिक न्याय के मूल्यों की वकालत की।

महाराष्ट्र में दलित साहित्य आंदोलन के प्रमुख हस्ताक्षरों में बाबूराव बागुल, दया पवार, नामदेव ढसाल, अरुण कांबले, और शरणकुमार लिंगबाले शामिल हैं। "आकारंथ" (लाल पशु), "गोलपिठ" (इज्जतवादी), और "उत्तरमहर" (उत्तर महार) जैसी पत्रिकाओं ने दलित साहित्य के प्रकाशन और प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। नामदेव ढसाल की कविता संग्रह "गोलपिठ" और लिंगबाले की आत्मकथा "अक्करमाशी" (आउटकास्ट) दलित साहित्य के क्लासिक उदाहरण हैं।

महाराष्ट्र के बाद, दलित साहित्य आंदोलन ने अन्य भारतीय भाषाओं में भी प्रवेश किया। कन्नड़ में देवनूर महादेव और सिद्धलिंगैया, तमिल में बामा और इमाइयम, तेलुगु में जी. कलियाना राव और गोगु शामिन, मलयालम में सी. अय्यपन, और हिंदी में ओमप्रकाश वाल्मीकि और मोहनदास नैमिशराय दलित साहित्य के प्रमुख लेखक हैं।

दलित साहित्य की मुख्य विशेषताएं इसकी यथार्थवादी शैली, प्रत्यक्ष और मार्मिक भाषा, और दलित जीवन के कठोर यथार्थ का चित्रण हैं। इसमें दलित समुदायों के अनुभवों, उनकी पीड़ा, अपमान, शोषण और प्रतिरोध की कहानियां शामिल हैं। दलित लेखक अपनी रचनाओं में अक्सर जन्म, मृत्यु, विवाह, धर्म और परंपरा जैसे विषयों पर प्रश्न उठाते हैं और परंपरागत हिंदू प्रथाओं और विश्वासों की आलोचना करते हैं।

दलित आत्मकथाएं दलित साहित्य का एक महत्वपूर्ण हिस्सा हैं। ये आत्मकथाएं न केवल व्यक्तिगत अनुभवों का दस्तावेजीकरण हैं, बल्कि सामाजिक इतिहास और जाति व्यवस्था की विसंगतियों का भी अभिलेख हैं। शरणकुमार लिंगबाले की "अक्करमाशी", ओमप्रकाश वाल्मीकि की "जूठन", बाबूराव बागुल की "जेव्हा मी जात चोरली होती" (जब मैंने अपनी जाति चुराई थी), और बामा की "करुक्कु" जैसी आत्मकथाएं दलित जीवन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालती हैं और जाति-आधारित उत्पीड़न के खिलाफ प्रतिरोध की गवाही देती हैं। दलित साहित्य ने भारतीय साहित्य और बौद्धिक परंपरा में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इसने न केवल साहित्य के विषयों और शैलियों का विस्तार किया है, बल्कि सामाजिक-राजनीतिक बहस और संवाद को भी समृद्ध किया है। दलित साहित्य ने भारतीय समाज के हाशिये पर रहने वाले समूहों के अनुभवों और आवाजों को सामने लाकर भारतीय साहित्य को अधिक समावेशी और प्रतिनिधिमूलक बनाया है।

साहित्य के साथ-साथ, दलित सांस्कृतिक आंदोलन ने संगीत, नाटक, फिल्म और दृश्य कला के माध्यम से भी अपनी अभिव्यक्ति पाई है। दलित तमाशा, जालता (प्रकाश), आम्बेडकरी जलसे और

विद्रोही जलसे जैसे लोक रूपों ने दलित संस्कृति और राजनीति को जन-जन तक पहुंचाया है। ये प्रदर्शन कला रूप न केवल मनोरंजन के माध्यम हैं, बल्कि सामाजिक जागरूकता और राजनीतिक शिक्षा के उपकरण भी हैं। आधुनिक समय में, दलित फिल्म निर्माताओं, कलाकारों और संगीतकारों ने अपनी कला के माध्यम से जाति-उत्पीड़न के खिलाफ आवाज उठाई है। नागराज मंजुले की फिल्म "फंड्री" (सअर), अनुराग कश्यप की "गैंग्स ऑफ वासेपुर", और पा. रंजीथ की "करणन" जैसी फिल्मों ने दलित जीवन और उनके संघर्षों को सिनेमा के पर्दे पर प्रभावशाली ढंग से चित्रित किया है। इसी तरह, दलित रॉक बैंड और रैप कलाकार, जैसे "दलित पैथर्स ऑफ इंडिया", "जुगनी सिस्टम" और "गाना मुदालियार" ने संगीत के माध्यम से जाति-विरोधी संदेश फैलाए हैं।

दलित साहित्य और सांस्कृतिक आंदोलन का उद्देश्य केवल दलित अनुभवों को अभिव्यक्त करना ही नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन लाना भी है। यह आंदोलन दलित पहचान, गौरव और आत्मसम्मान को पुनर्स्थापित करने का प्रयास करता है और जाति-आधारित भेदभाव और असमानता के खिलाफ संघर्ष के लिए एक सांस्कृतिक मंच प्रदान करता है। दलित साहित्य और कला न केवल दलित समुदायों के लिए आत्म-अभिव्यक्ति और सशक्तिकरण का माध्यम हैं, बल्कि सामाजिक न्याय और समानता के लिए संघर्ष में एक महत्वपूर्ण हथियार भी हैं।

दलित आंदोलन और अन्य सामाजिक आंदोलनों के साथ संबंध

दलित आंदोलन भारत के अन्य सामाजिक-राजनीतिक आंदोलनों के साथ जटिल और बदलते संबंध रखता है। इन संबंधों ने दलित आंदोलन की रणनीतियों, एजेंडे और गठबंधनों को आकार दिया है और भारतीय राजनीति में इसकी स्थिति को प्रभावित किया है।

राष्ट्रीय आंदोलन और दलित आंदोलन के बीच संबंध हमेशा तनावपूर्ण रहे हैं। औपनिवेशिक काल के दौरान, अंबेडकर और कई दलित नेताओं ने कांग्रेस और गांधी के नेतृत्व वाले स्वतंत्रता आंदोलन के प्रति संदेह व्यक्त किया था। उनका मानना था कि स्वतंत्रता आंदोलन मुख्य रूप से उच्च जाति के हितों का प्रतिनिधित्व करता है और दलित मुद्दों की अनदेखी करता है। 1932 के पूना पैक्ट से पहले पृथक निर्वाचक मंडल के मुद्दे पर अंबेडकर और गांधी के बीच मतभेद इस तनाव का एक प्रमुख उदाहरण है। स्वतंत्रता के बाद, दलित आंदोलन और राष्ट्रीय मूलधारा की राजनीति के बीच तनाव जारी रहा। कई दलित नेताओं और बुद्धिजीवियों ने आरोप लगाया कि राष्ट्रीय विकास के नाम पर दलित हितों की अनदेखी की गई है और दलितों को भारतीय राष्ट्र-निर्माण प्रक्रिया में समान भागीदारी से वंचित रखा गया है। इस असंतोष ने अलग दलित राजनीतिक पार्टियों और संगठनों के गठन को प्रेरित किया, जैसे रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इंडिया और बाद में बहुजन समाज पार्टी।

वामपंथी आंदोलनों के साथ दलित आंदोलन के संबंध भी जटिल रहे हैं। अंबेडकर ने मार्क्सवाद की सराहना करते हुए भी उसकी आलोचना की थी, खासकर भारतीय संदर्भ में जाति के मुद्दे पर इसके दृष्टिकोण को लेकर। उनका मानना था कि भारतीय वामपंथ जाति-आधारित उत्पीड़न की समझ में विफल रहा है और अक्सर उच्च जाति के वर्चस्व को बरकरार रखता है। इसी तरह, कई मार्क्सवादी



विचारकों ने अंबेडकरवादी दृष्टिकोण को "विभाजनकारी" और "बूर्जुआ" करार दिया है। हालांकि, हाल के वर्षों में, दलित और वामपंथी आंदोलनों के बीच समझ और सहयोग बढ़ा है। कई दलित-वामपंथी बुद्धिजीवियों और कार्यकर्ताओं ने वर्ग और जाति के अंतर्संबंधों पर प्रकाश डाला है और दोनों आंदोलनों के बीच संश्लेषण की संभावनाओं का पता लगाया है। हैदराबाद विश्वविद्यालय में रोहित वेमुला की आत्महत्या के बाद के छात्र विरोध, जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, इस बढ़ते समन्वय का एक उदाहरण है।

आदिवासी आंदोलनों के साथ दलित आंदोलन के संबंध सहयोगात्मक रहे हैं, क्योंकि दोनों समूह ऐतिहासिक रूप से हाशिए पर रहे हैं और समान प्रकार के भेदभाव और शोषण का सामना करते हैं। राष्ट्रीय आदिवासी एकता परिषद और नेशनल कैम्पेन फॉर दलित ह्यूमन राइट्स जैसे संगठनों ने विस्थापन, भूमि अधिकारों और जंगल अधिकारों जैसे मुद्दों पर मिलकर काम किया है। 2002 में भूमि अधिकारों पर राष्ट्रीय आंदोलन (National Movement for Land Rights) की स्थापना दलित और आदिवासी संगठनों के संयुक्त प्रयास का परिणाम थी। अल्पसंख्यक समुदायों, विशेष रूप से मुस्लिमों के साथ दलित आंदोलन के संबंध एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू हैं। ऐतिहासिक रूप से, अंबेडकर ने दलित-मुस्लिम एकता की संभावनाओं पर चिंतन किया था, लेकिन धार्मिक और सांस्कृतिक मतभेदों के कारण यह गठबंधन कभी पूरी तरह से विकसित नहीं हुआ। हाल के वर्षों में, दलित और मुस्लिम संगठनों ने साझा उत्पीड़न और भेदभाव के अनुभवों के आधार पर राजनीतिक गठबंधन बनाने के प्रयास किए हैं। बहुजन समाज पार्टी ने अपने "बहुजन" एजेंडे में दलितों, पिछड़े वर्गों और अल्पसंख्यकों को शामिल करने का प्रयास किया है।

फेमिनिस्ट आंदोलनों के साथ दलित आंदोलन के संबंध, विशेष रूप से दलित फेमिनिज्म के उभार के साथ, अधिक जटिल हो गए हैं। जैसा कि पहले चर्चा की गई है, दलित फेमिनिस्ट ने मुख्यधारा के फेमिनिज्म पर उच्च जाति के पूर्वाग्रहों और दलित महिलाओं के अनुभवों की अनदेखी करने का आरोप लगाया है। हालांकि, हाल के वर्षों में, दलित और गैर-दलित फेमिनिस्ट संगठनों ने लिंग-आधारित हिंसा, रिप्रोडक्टिव राइट्स और महिला श्रमिकों के अधिकारों जैसे मुद्दों पर सहयोग किया है। अंत में, अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार आंदोलनों के साथ दलित आंदोलन के संबंध भी महत्वपूर्ण रहे हैं। दलित संगठनों ने संयुक्त राष्ट्र, अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन (ILO) और अन्य अंतरराष्ट्रीय मंचों पर दलित मुद्दों को उठाने के लिए वैश्विक मानवाधिकार नेटवर्क का उपयोग किया है। 2001 के डरबन विश्व सम्मेलन में जाति-आधारित भेदभाव को अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार कानून के तहत मान्यता देने के लिए अभियान इस सहयोग का एक उदाहरण है। ये विविध संबंध और गठबंधन दलित आंदोलन की रणनीतिक दिशा और राजनीतिक पहचान को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वे दलित आंदोलन को व्यापक सामाजिक न्याय और मानवाधिकार संघर्ष के साथ जोड़ते हैं, जबकि दलित मुद्दों और दृष्टिकोण की विशिष्टता को बनाए रखते हैं।

राज्य और नागरिक समाज की भूमिका

भारत में दलित आंदोलन के विकास और प्रगति में राज्य और नागरिक समाज दोनों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। राज्य ने कानूनी और संवैधानिक संरचना प्रदान की है जिसके भीतर दलित अधिकारों की मांग की जाती है, जबकि नागरिक समाज ने सामाजिक परिवर्तन के लिए दबाव बनाने और जाति-विरोधी एजेंडे को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। स्वतंत्रता के बाद, भारतीय राज्य ने दलितों के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक उत्थान के लिए कई कानूनी और नीतिगत उपाय किए हैं। संविधान में अनुच्छेद 17 ने अस्पृश्यता को गैरकानूनी घोषित किया, और अनुच्छेद 15 और 16 ने जाति के आधार पर भेदभाव पर प्रतिबंध लगाया। इसके अलावा, अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम, 1989 दलितों के खिलाफ हिंसा और अत्याचार से निपटने के लिए विशेष कानूनी प्रावधान प्रदान करता है। आरक्षण नीतियों ने दलित सशक्तिकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। संविधान के अनुच्छेद 330 और 332 अनुसूचित जातियों के लिए लोकसभा और राज्य विधानसभाओं में सीटें आरक्षित करते हैं, जबकि अनुच्छेद 335 सरकारी नौकरियों में आरक्षण का प्रावधान करता है। 1993 के 73वें और 74वें संविधान संशोधनों ने पंचायती राज संस्थाओं और शहरी स्थानीय निकायों में अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षण अनिवार्य किया। बाद में, शिक्षा के क्षेत्र में भी आरक्षण का विस्तार किया गया। 1990 के दशक में मंडल आयोग की सिफारिशों के कार

बहुविकल्पीय प्रश्न (MCQs)

1. ब्रिटिश शासन के दौरान 'जमींदारी प्रथा' किस व्यवस्था के अंतर्गत स्थापित की गई थी?
 - a) रैयतवाड़ी व्यवस्था
 - b) महालवाड़ी व्यवस्था
 - c) स्थायी बंदोबस्त
 - d) इनामदारी व्यवस्था
2. भारत में वकील, डॉक्टर, इंजीनियर आदि पेशेवर वर्ग का उदय किस कारण से हुआ?
 - a) औद्योगिक क्रांति
 - b) पश्चिमी शिक्षा प्रणाली
 - c) धार्मिक सुधार
 - d) जातीय आंदोलन
3. निम्न में से कौन सा किसान आंदोलन पे कुट (बेगार) प्रथा के विरुद्ध था?
 - a) चंपारण सत्याग्रह
 - b) बारदोली सत्याग्रह
 - c) मोपला विद्रोह
 - d) एका आंदोलन
4. 'ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस' (AITUC) की स्थापना किस वर्ष हुई?



- a) 1910
- b) 1920
- c) 1930
- d) 1940

5. संथाल विद्रोह कब हुआ था?

- a) 1775
- b) 1855-56
- c) 1875
- d) 1900

6. बिरसा मुंडा किस जनजातीय विद्रोह के नेता थे?

- a) संथाल विद्रोह
- b) खासी विद्रोह
- c) उलगुलान विद्रोह
- d) कोल विद्रोह

7. डॉ. बी.आर. अम्बेडकर द्वारा स्थापित संगठन का नाम क्या था?

- a) बहिष्कृत हितकारिणी सभा
- b) अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ
- c) दक्षिण भारत हितकारिणी सभा
- d) दलित पैथर्स

8. पूना पैक्ट किस वर्ष हुआ था?

- a) 1920
- b) 1929
- c) 1932
- d) 1935

9. आदिवासी विद्रोहों का मुख्य कारण था:

- a) धार्मिक अधिकारों का हनन
- b) जंगल और जमीन पर अधिकारों का अतिक्रमण
- c) जातीय भेदभाव
- d) भाषा पर प्रतिबंध

10. तेभागा आंदोलन किस क्षेत्र में हुआ था?

- a) पंजाब
- b) बंगाल
- c) महाराष्ट्र
- d) गुजरात

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. भारत में मध्य वर्ग के उदय के कारणों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
2. स्वतंत्रता आंदोलन में भारतीय पेशेवर वर्ग की भूमिका का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।
3. चंपारण सत्याग्रह के कारण और परिणामों का संक्षिप्त विवरण दीजिए।
4. भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में श्रमिक वर्ग के योगदान पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
5. संथाल विद्रोह के कारण और महत्व का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
6. जनजातीय समाज पर ब्रिटिश नीतियों के प्रभावों का संक्षिप्त विश्लेषण कीजिए।
7. डॉ. अम्बेडकर के दलित आंदोलन के मुख्य उद्देश्यों का संक्षिप्त विवरण दीजिए।
8. दलित वर्ग और गांधीजी के बीच मतभेदों के मुख्य बिंदु क्या थे?
9. पूना पैक्ट की प्रमुख विशेषताओं का संक्षिप्त विवरण दीजिए।
10. स्वतंत्रता के समय भारत के किसानों की स्थिति पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. ब्रिटिश शासन के दौरान भारत में भू-स्वामी वर्ग के उदय, विकास और उनकी राजनीतिक भूमिका का विस्तृत विश्लेषण कीजिए।
2. भारतीय मध्य वर्ग के उदय के कारणों और राष्ट्रीय आंदोलन में उनकी भूमिका का विस्तृत विवेचन कीजिए। क्या मध्य वर्ग ने राष्ट्रीय आंदोलन पर अपना वर्चस्व स्थापित किया था?
3. पेशेवर वर्ग (वकील, डॉक्टर, शिक्षक आदि) की उत्पत्ति, विकास और राष्ट्रीय आंदोलन में उनके योगदान का विस्तृत विश्लेषण कीजिए।
4. भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में किसान आंदोलनों के योगदान का विस्तृत विवेचन कीजिए। चंपारण, खेड़ा, बारदोली और मोपला विद्रोहों के कारणों और परिणामों का विश्लेषण कीजिए।
5. स्वतंत्रता पूर्व भारत में श्रमिक आंदोलन के विकास का विस्तृत विश्लेषण कीजिए। श्रमिक वर्ग और राष्ट्रीय आंदोलन के बीच संबंधों पर प्रकाश डालिए।
6. औपनिवेशिक काल में जनजातीय समाज की स्थिति और उनके विद्रोहों के कारणों का विस्तृत विश्लेषण कीजिए। संथाल, मुंडा और कोल विद्रोहों के महत्व पर प्रकाश डालिए।
7. "भारत में जनजातीय विद्रोह केवल आर्थिक कारणों से नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और धार्मिक पहचान के संरक्षण के लिए भी हुए थे।" इस कथन का विश्लेषणात्मक परीक्षण कीजिए।
8. भारत में दलित आंदोलन के विकास और डॉ. अम्बेडकर के योगदान का विस्तृत विश्लेषण कीजिए। दलित आंदोलन ने भारतीय समाज और राजनीति को किस प्रकार प्रभावित किया?
9. गांधीजी और डॉ. अम्बेडकर के दलित उत्थान संबंधी विचारों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कीजिए। दोनों के दृष्टिकोणों में समानताएँ और अंतर स्पष्ट कीजिए।
10. "ब्रिटिश शासन के दौरान भारतीय समाज में वर्गीय विभाजन और संघर्ष बढ़ गया था।" इस कथन का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए और विभिन्न सामाजिक वर्गों के बीच संबंधों का fo'y" k d h f t , A



संदर्भ ग्रंथ सूची :-

1. भारत का स्वतंत्रता संग्राम लेखक: बिपिन चंद्रा व अन्य प्रकाशक: पेंग्विन बुक्स नवीनतम संस्करण: 75 वां स्वतंत्रता दिवस संस्करण (2022)
2. आधुनिक भारत का संक्षिप्त इतिहास लेखक: राजीव अहिर प्रकाशक: स्पेक्ट्रम पब्लिकेशन्स नवीनतम संस्करण: संशोधित 2024 संस्करण (जनवरी 2024)
3. आधुनिक भारत लेखक: बिपिन चंद्रा प्रकाशक: एनसीईआरटी मूल संस्करण: 2000
4. प्लासी से विभाजन और आगे तक लेखक: शेखर बंदोपाध्याय प्रकाशक: ओरिएंट ब्लैकस्वॉन नवीनतम संस्करण: द्वितीय संस्करण (2022)
5. आधुनिक भारत का इतिहास – ग्रोवर एवं मेहता लेखक: एल.एन. ग्रोवर एवं एस.बी. मेहता प्रकाशक: एस. चंद पब्लिकेशन नवीनतम संस्करण: 2020

MATS UNIVERSITY

MATS CENTRE FOR DISTANCE AND ONLINE EDUCATION

UNIVERSITY CAMPUS: Aarang Kharora Highway, Aarang, Raipur, CG, 493 441

RAIPUR CAMPUS: MATS Tower, Pandri, Raipur, CG, 492 002

T : 0771 4078994, 95, 96, 98 Toll Free ODL MODE : 81520 79999, 81520 29999

Website: www.matsodl.com

